K. Mishra

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कथित

श्री पञ्चरत्न गीता

Kalawati Mishra
B. A. Part I

[illegible] को =) पोस्टेज भेजिये

लेखक तथा संग्रहकर्ता

स्तुञ्रपुरस्थ श्री विद्याधर्म वर्द्धिनी पाठशालायाः
(संस्कृत कालेज)
यजुर्वेद कर्मकाण्डाध्यापकः
श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी

विचित्र वीर स्तोत्रम् ॥

ॐ ह्रीं नमो भगवते विचित्र वीर हनुमते प्रलयकालानल प्रभा प्रज्वलनाय। प्रताप वज्र देहाय। अञ्जनी गर्भ संभूताय। प्रकट विक्रम वीर दैत्य दानव यक्ष रक्षो गण ग्रह बंधनाय। भूत ग्रह बंधनाय। प्रेत ग्रह बंधनाय। पिशाच ग्रह बंधनाय। शाकिनी डाकिनी ग्रह बंधनाय। काकिनी कामिनी ग्रह बन्धनाय। ब्रह्म ग्रह बन्धनाय। ब्रह्मराक्षस ग्रह बन्धनाय। चौर ग्रह बन्धनाय। मारी ग्रह बन्धनाय। एहि एहि। आगच्छ आगच्छ। आवेशय आवेशय। मम हृदये प्रवेशय प्रवेशय। स्फुर स्फुर। प्रस्फुर प्रस्फुर। सत्यं कथय। व्याघ्र मुख बन्धन। सर्प मुख बंधन। राज मुख बन्धन। नारी मुख बन्धन। सभा मुख बन्धन। शत्रु मुख बन्धन। सर्व मुख बन्धन। लंका प्रासाद भञ्जन। अमुकं मे वशमानय। क्लीं २ श्रीं २ राजानं वशमानय। श्रीं ह्रीं क्लीं स्त्रीणां आकर्षय २ शत्रून्मर्दय २ मारय २ चूर्णय २ खे खे श्री रामचन्द्राज्ञया मम कार्यं सिद्धिं कुरु २ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः फट् स्वाहा। विचित्र वीर हनुमन् मम सर्व शत्रून् भस्मी कुरु २। हन हन हुं फट् स्वाहा। एकादश शत वारं जपित्वा। सर्व शत्रून् वशमानयति नान्यथा ॥ इति विचित्र वीर स्तोत्रम् ॥

केवल टाइटिल पेज कान्ति प्रेस, आगरा में छपा।

॥ श्रीः ॥

महाप्रभु भगवान् श्रीकृष्ण प्रणीत

पंचरत्न-गीता



विविधोपयोगी विषय सहित

आगरा नगरस्थ श्री विद्याधर्म्मवर्द्धिनी पाठशालायाः

कर्मकाण्ड यजुर्वेदाध्यापकेन

अयोध्यास्थ पण्डित परिषद् समितेः कर्मकाण्ड विषय

परीक्षकेन

श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामिना

संग्रहीता संशोधिता

तथा

तत्पुत्र घनश्याम गोस्वामिना भाषा टीकया समलंकृता

सा च

वंशीधर घनश्यामदास फर्माध्यक्ष

घनश्यामदास कालीचरण भक्ताभ्यां

नवलगढ़ निवासिभ्यां

धर्मार्थ वितरणाय प्रकाशिता

संवत् १९९९ वि० सन् १९४२ ई०

द्वितीयवार } प्राप्ति स्थान { २०००

घनश्यामदास कालीचरण, बेलनगंज आगरा।

सामग्री पूजन

केशर, कपूर, चंदनमूठा, चंदन को चकला, आसन, पंचपात्र आचमनीय, तष्टा, कलश तांबे का, लोटा, धूपबत्ती, अगरबत्ती, दूध कच्चा, दही, शहद, घी, बूरा, फूल, तुलसी, दूर्वा, फूलमाला, इत्र, लवंग, जायफल, कंकोल, तिल, दर्भ, सर्षपश्वेत, यव, अक्षत, हरिद्रा पिसी, शंख, घंटा, तिपाईशंख को, नैवेद्य, पान, सुपारी, यज्ञोपवीत, वस्त्र, उपवस्त्र, स्नान आदि के लिये पात्र ऋतुफल, घड़ियाल, आरती, चौकी दो हाथ लम्बी तथा चौड़ी।
यज्ञोपवीत, वस्त्र, आभूषण आदि ।

❀ शुभ समाचार ❀

जिन महानुभावों को मन्दिर, कूआ, बाग आदि की प्रतिष्ठा तथा पुरश्चरण प्रयोग कराने की इच्छा हो एक बार लिखकर परामर्श करें। बहुत सुभीते से उनका काम करा दिया जायगा जैसा वह चाहेंगे। इसके अतिरिक्त हस्तरेखा से नष्ट पत्री वर्ष फल तथा मूक प्रश्न, सुख, दुःख सब बतलाये जाते हैं। उत्तर के लिये जवाबी कार्ड वा -)॥ के टिकट आने चाहिये।

आपका—

श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी

२१७३ नं० माईथान—आगरा।

निवेदन ।

संस्कृत साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता एक अत्यन्त उज्ज्वल, भावपूर्ण और असूल्य ग्रन्थरत्न है। यह इतनी सुप्रसिद्ध और माननीय पुस्तक है कि सभी हिन्दू, सभी हिन्दू नहीं वरन् अन्य भारतीय एवं विदेशी विद्वान् भी इसका आदर करते हैं। लाखों हिन्दू नर नारी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। हजारों को तो यह कण्ठाग्र है। अनेक देशी और विदेशी धुरन्धर विद्वान और तत्त्ववेत्ताओं ने इसकी सर्वोत्कृष्ट उपादेयता पर मुग्ध होकर इस पर विषद व्याख्याऐं, टीकाऐं और टिप्पणियां लिखी हैं। संसार की कदाचित् ही कोई भाषा ऐसी होगी जिसमें इसका अनुवाद न हो। इसके सम्बन्ध में अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये हैं। बड़े २ पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है, और इसके गौरवशाली सिद्धांतों पर गम्भीर विचार किए हैं। उनको इस बात को मानना पड़ा है कि निस्सन्देह इस ग्रन्थरत्न का उपदेष्टा कोई अलौकिक आत्मा थी—

गीता समस्त शास्त्रों का सार है,

जैसा कि बाराह पुराणान्तर्गत सूत शौनक सम्वाद में श्रीमद्भगवद्गीता का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा है कि:—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।

अर्थात् सारे उपनिषद् गौ रूप हैं भगवान् श्री कृष्णचन्द्र दुहने वाले हैं और जिस तरह गौ दुहने के समय पहिले पहिल बछड़ा दूध पीता है इसी तरह अर्जुन ने पहिले-पहिले इसका

पान किया है। गीता सब शास्त्रों का सार है, इसलिये इसका प्रत्येक श्लोक ही नहीं बल्कि श्लोक का प्रत्येक चरण भी सूत्र सदृश अनन्त भाव का प्रकाशक है। अतः गीता सर्वतामुखी है। इसको गुरु के उपदेश के अनुसार भक्तिपूर्वक अनुशीलन करने से सब शास्त्रों का ज्ञान हो जाता है, फिर पृथक् २ अन्य शास्त्रों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

ऐसे सर्वश्रेष्ट उपादेय ग्रन्थरत्न का जितना भी प्रचार हो उतना ही लोक का कल्याण है। इसी बात को दृष्टि में रखकर इस ग्रन्थरत्न का प्रकाशन किया है। इससे लोगों ने यदि कुछ भी लाभ उठाया तो मैं अपने को धन्य एवं कृतकृत्य समझूंगा।

वैशाख शुक्ला १५ संवत् १९९९ } विनीत — घनश्यामदास कालीचरण भगत

कर्म काण्ड ग्रन्थ रत्न माला

कर्म काण्ड सम्बधी विषयों की अपूर्व पुस्तक है जो १००० ग्राहक होने पर निकालने का निश्चय किया है। ऐसी पुस्तक आज तक कहीं नहीं छपी है। ग्राहक गण अपना नाम ग्राहक श्रेणी में लिखाने की शीघ्रता करें।

आपका—
श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी
३५१७ मांईथान, आगरा।

गीता पुरश्चरणानि

—❀:०:०:❀—

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वदेशीय सर्वमान्य ग्रन्थ है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के इस उपदेशामृत से संसार के जिज्ञासुगण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति तो करते ही हैं; परन्तु इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि इसके प्रत्येक अध्याय में एक २ श्लोक ऐसा भी है जिसका पुरश्चरण करने से मनुष्यों की अनेक कार्यसिद्धि हो सकती हैं। यह प्रयोग विधि दुष्प्राप्य है; बड़ी कठिनता से हमको प्राप्त हुई है। लोकोपकारार्थ इस प्रयोगविधि को हम इस पुस्तक में प्रकाशित करते हैं। यह प्रयोगविधि, जहां तक हमारा अनुमान है, किसी पुस्तक में प्रकाशित नहीं हुई है। आशा है वे लोग जिनको जिस कार्य की आवश्यकता होगी इस विधि में से इच्छित प्रयोग कर अपना कार्य साधन करेंगे; परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि इस प्रयोग विधि में लिखे हुए प्रयोग को करने से पहिले जिस विधि से हमने विष्णु पूजन करना आगे लिखा है उस विधि से नित्यप्रति विष्णु पूजन कर प्रयोगमंत्र का ५००००० पांच लक्ष जप कर मंत्र सिद्ध करने पर प्रयोग करने से ही अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होगी, यह ध्यान रहे अन्यथा परिश्रम वृथा जायगा।

प्रयोगविधिः—

१—श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक का २१ दिन में २५०००, जप करने से सब कार्य सिद्ध होते हैं।

ॐ धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

२—दूसरे अध्याय के दूसरे मन्त्र को ११ दिन में २५००० जपने से तीनों प्रकार के पापों का नाश होता है।

ॐ कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

३—दूसरे अध्याय के सातवें मंत्र को १२ दिन में २५००० जपने से स्वप्न में कार्य सिद्धि का ज्ञान होता है।

ॐ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥३॥

४—तीसरे अध्याय के तीसरे मन्त्र का १५ दिन में ११००० जप करने से चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है।

ॐ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥४॥

५—चौथे अध्याय के चौथे श्लोक का २१ दिन में ५०००० करने से पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

ॐ अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥५॥

६—पाँचवें अध्याय के पाँचवे श्लोक का ३१ दिन में ४०००० जप करने से पराये द्रव्य की प्राप्ति होती है।

ॐ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥६॥

७—छठवें अध्याय के छठे श्लोक का २५ दिन में २१००० जप करने से विद्वेषण होता है।

ॐ बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥७॥

८—सातवें अध्याय के सातवें श्लोक का ३१ दिन में १७००० जप करने से रोग का नाश होता है।

ॐ मत्तः परतरंनान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं

प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥८॥

९—आठवें अध्याय के ८ वें श्लोक का १५ दिन में १५००० जप करने से वियोग कर्म सिद्ध होता है।

ॐ अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥९॥

१०—नवें अध्याय के ९ वें श्लोक का २३ दिन में १९००० जप करने से वशीकरण होता है।

ॐ न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। उदासीन-वदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥१०॥

११—दसवें अध्याय के १० वें श्लोक का ३१ में ३६००० जप करने से योग युक्त मनुष्य होता है।

ॐ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥११॥

१२—दसवें अध्याय के १६ वें श्लोक का ३१ दिन में ३६००० जप करने लक्ष्मी प्राप्त होती है।

ॐ वक्तु महर्स्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूति-भिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठति ॥१२॥

१३—ग्यारहवें अध्याय के ११ वें श्लोक का १५ दिन में १३०० जप करने से किसी का बना बनाया काम बिगाड़ा जा सकता है।

ॐ दिव्यमाल्यांबरधर दिव्यगंधानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥१३॥

१४—ग्यारहवें अध्याय के १६ वें श्लोक का १५ दिन में १३००० जप करने से पुष्कल धनकी प्राप्ति होती है।

ॐ अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्। नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१४॥

१५—बारहवें अध्याय के १२ वें श्लोक का २१ दिन में १५००० जप करने से वियोग होता है।

ॐ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१५।।

१६—तेरहवें अध्याय के १३ वें श्लोक का २५ दिन में २५००० जप करने से कार्य की सिद्धि होती है।

ॐ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यद्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।।१६।।

१७—चौदहवें अध्याय के १४ वें श्लोक का ५१ दिन में १००००० जप करने से मरण समय का ज्ञान होता है।

ॐ यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकान् अमलान्प्रतिपद्यते ।।१७।।

१८—पद्रहवें अध्याय के १५ वें श्लोक का १५ दिन में ११००० जप करने से शत्रु को प्राप्त होने वाली वस्तु न प्राप्त हो।

ॐ सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्चसर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम् ।।१८।।

१९—सोलहवें अध्याय के १६ वें श्लोक का ११ दिन में १००० जप करने से विद्वेषण तथा शत्रु का नाश होता है।

ॐ अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः। प्रसक्ता कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१९।।

२०—सत्रहवें अध्याय के १७ वें श्लोक का १५ दिन में १५००० जप करने से शत्रु का कार्य नष्ट होता है।

ॐ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः। अफलाकांक्षिभियुक्तैः सात्विकं परिचक्षते ।। २० ।।

२१—अठारहवें अध्याय के १८ वें श्लोक का २१ दिन में १५००० जप करने से मोहन होता हैं।

ॐ ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। कारणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।। २१ ।।

हमने गीता के श्लोकों की पुरश्चरणविधि जो ऊपर दी है,

उन पुरश्चरणों के करने से पहले उन मन्त्रों का सिद्ध करना आवश्यक है। बिना सिद्ध किये मन्त्र फल न देंगे—यह ध्यान में रहे। मन्त्र सिद्ध करने के लिये नित्यप्रति, भगवान् का पूजन कर मन्त्र जपना होगा जिस विधि से भगवान् का पूजन करना होगा, वह विधि इस प्रकार है—

स्नान करके पीली रंगी हुई व पीली रेशमी धोती पहरे, दुपट्टा ओढ़े, आसन पर बैठ कर 'अपवित्रः पवित्रो वा' इस मंत्र से पवित्र होकर नीचे लिखे मन्त्र से आचमन करे :—

ॐ केशवाय नमः। ॐ माधवाय नमः। ॐ नारायणाय नमः।

पश्चात् भगवान् का ध्यान करके प्राणायाम करे, तत्पश्चात् संकल्प करे।

ॐ स्वस्तिश्रीमकन्दसच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे एकपंचाशत्तमेवर्षे प्रथम मासे, प्रथम पक्षे, प्रथम दिवसे, अह्नो द्वितीयेयामे, तृतीयेमहूर्ते, रथन्तरादि द्वात्रिंशत्कल्पानां मध्ये अष्टमे श्रीश्वेतवाराहकल्पे, स्वायंभुवादिमन्वतराणांमध्ये सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे, कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञानां चतुर्युगानांमध्ये वर्तमाने अष्टविंशतितमे कलियुगे तत्प्रथमचरणे तथा पंचाशत्कोटियोजनविस्तीर्ण भूमंडलान्तर्गतसप्तद्वीपमध्यवर्तिनि जम्बूद्वीपे तत्रापि नवखंडानांमध्ये नवसहस्रयोजनविस्तीर्णे भरतखंडे तत्रापि परपवित्रे भारतेवर्षे आर्यावर्तान्तर्गतब्रह्मावर्तैकदेशे कुमारिक्षेत्रे मथुरा१ मण्डले रेणुका समीपक्षेत्रे श्रीगंगा यमुनयोः पश्चिमे तटे नर्मदाया उत्तरेतटेदेवसन्निधौ३ श्रीमन्नृपति विक्रमादि-

---

नोट—(१) अपने समीपवर्त्ती मंडल का नाम।

(२) समीपवर्त्ती क्षेत्र का नाम।

(३) ब्राह्मण द्वारा जप कराना हो तो देव ब्राह्मण सन्निधौ कहना। केवल आप ही करे तो देव सन्निधौ कहना।

त्यराज्यातीत अमुक४ संख्यापरिमिते प्रवर्तमानेसंवत्सरे प्रभवादिषष्ठि संवत्सराणांमध्ये अमुक५ नामसंवत्सरे, अमुका६-यने, अमुक७ गोले, अमुक८ ऋतौ, अमुकमासे, अमुकपक्ष, अमुकतिथौ, अमुकवासरे, अमुक नक्षत्रे, अमुकयोगे, अमुक करण अमुकराशिस्थे सूर्ये, अमुकराशिस्थे देवगुरौ, अमुक राशिस्थे चन्द्र, शेषेषु ग्रहेषु यथायथाराशिस्थानस्थितेषु सत्सु एव ग्रहगणविशेषणविशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ अमुकगोत्र अमुकनामशर्म्माहं श्रीविष्णुप्रसादसिद्धिद्वारा सर्वापच्छान्तिपूर्वक अमुककार्यसिद्ध्यर्थं अमुक मन्त्रस्य यथासंख्याक जपं तद्दशांशहवनं बलिदानादिकं च करिष्ये तद्गतयापुरुषसूक्तेन पुराणविधानेन च श्रीविष्णु पूजनं न्यासादिकं च करिष्य ॥

पहले पुरुषसूक्तसे अपने शरीर में देहन्यास करे।

१ सहस्रशीर्षा०	वाम करे	२ पुरुषएवेदं०	दक्ष करे
३ एतावानस्य०	वाम पादे	४ त्रिपादूर्ध्व०	दक्ष पादे
५ ततोविराड्०	वामजानौ	६ तस्माद्यज्ञात्०	दक्ष जानौ
७ तस्माद्यज्ञात्सर्व,	वामकुक्षौ	८ तस्मादश्वा०	दक्षकुक्षौ
९ तं यज्ञं०	नाभौ	१० यत्पुरुषं०.	हृदि
११ ब्राह्मणोस्य०	वामबाहौ	१२ चन्द्रमा मनसो०	दक्षबाहौ

---

(४) पत्रे में सम्वत् की संख्या छपी रहती है वही बोलना।

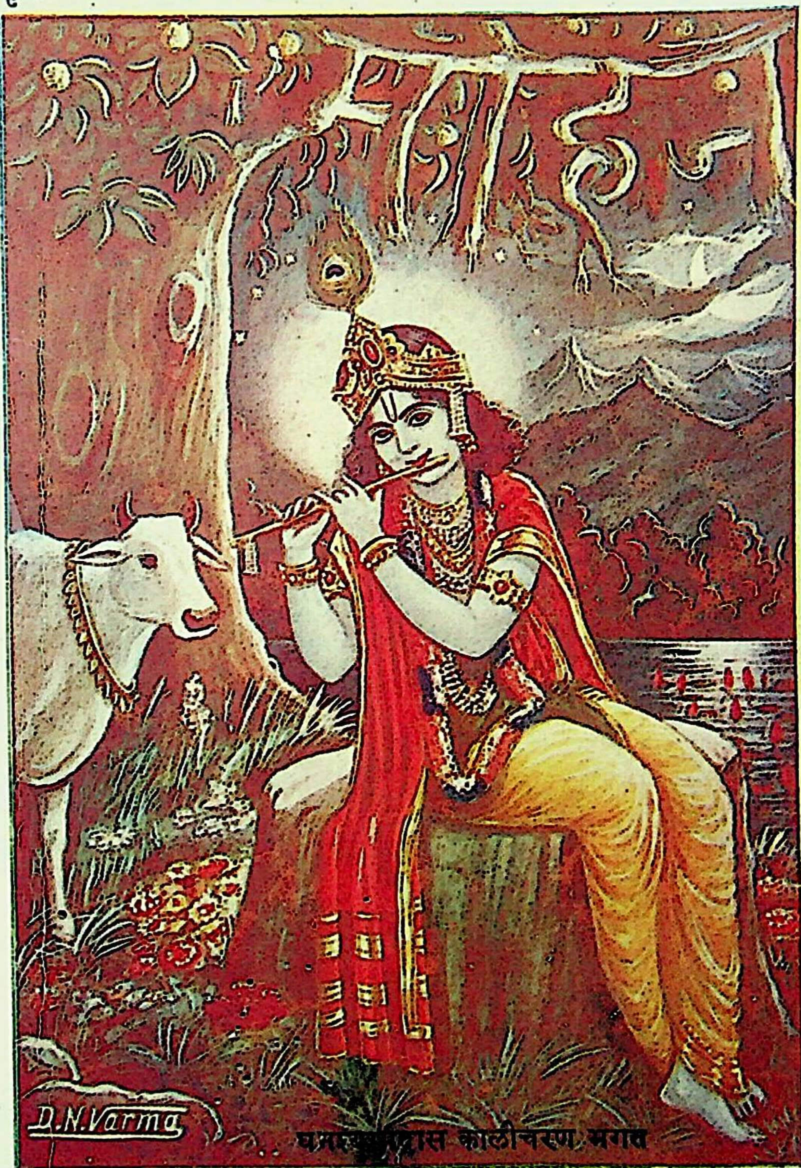
(५) सम्वत् का नाम भी पत्रे में छपा रहता है।

(६) मकर की संक्रांति से उत्तरायण, कर्क से दक्षिणायन कहना।

(७) मेष की संक्रांति से उत्तर गोल तुलाकी संक्रांति से दक्षिण गोल होता है।

(८) चैत्र से दो २ महीने की बसन्तादि छः ऋतु होती है, जैसे बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त शिशिर।

वृन्दारण्यगकल्पपादपतले शोणाभे



वृन्दारण्यग कल्पपादपतले सद्रत्नपीठेऽम्बुजेशोणाभे वसुपत्रके स्थितमजं पीताम्बरालंकृतम् ।
जीमूताभमनेकभूषणयुतं गोगोपगोपीवृतम् गोविन्दंस्मरसुन्दरं मुनियुतं वेणुंरणन्तं स्मरेत् ॥



१३ नाभ्याऽआसीत्० कंठे १४ यत्पुरुषेण० मुखे
१५ सप्तास्या० नेत्रे १६ यज्ञे न० शिरसि

बाद में फूल व तुलसी भगवान् की मूर्ति में लगाकर इन्हीं मंत्रों को बोलता हुआ भगवान् के शरीर में भी न्यास करे, फिर आगे लिखे ध्यान को स्मरण करता हुआ पूजन करे।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्। पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्॥ पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्। कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने॥

पूजन वेदोक्त और पुराणोक्त मन्त्रों से पुष्प तुलसी हाथ में लेकर आवाहन करे।

ॐ सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिर्ठं॰सर्व्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ अगच्छभगवन्देवस्वस्थानात्परमेश्वर! अहं पूजां करिष्यामि सदा त्वं संमुखोभव॥

ऐसे कहकर भगवान् पर पुष्प तुलसी चढ़ाना। फिर आसन के लिये पुष्प तुलसीचढ़ाना। सालगराम और मूर्ति में आवाहन विसर्जन नहीं करना।

ॐ पुरुषऽएवेदर्ठं॰सर्वंयद्भूतंयच्चभाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानोयदन्नेनातिरोहति॥ सिंहासनं स्वर्णपीठ नानारत्नोपशोभितम्। अनन्तफलपत्रस्थमुपविश्यासनं विभो!॥

फिर पुष्प चन्दन तुलसी अक्षतयुक्त जल लेकर पैर धुलाना।

ॐ एतावानस्यमहिमातोज्यायांश्चपूरुषः। पादोस्यव्विश्वाभूतानित्रिपादस्यामृतंदिवि॥ स्नानार्थमुष्णतोयानि पुष्पगंधयुतानि च। पाद्यं गृहाणदेवेश भक्तानुग्रहकारक॥

हाथ धुलाने को अर्घ्य कहते हैं। चन्दन फूल अक्षत जल में मिला कर शंख से भगवान् की मूर्ति पर चढ़ाना।

ॐ त्रिपादूर्द्ध्वऽउदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः। ततोव्विष्वक्व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि॥ शंखतोयसमानीत गंधपुष्पादि-

वासितम् । अर्घ्यंगृहाणदेवेश प्रीत्यर्थं ते सदा प्रभो ॥

आचमन के अर्थ शुद्ध जल चढ़ाना ।

ॐ ततोविराडजायतविराजोऽअधिपूरुषः । सजातोऽअत्य-रिच्यतपश्चाद्भूमिमथोपुरः ॥ गंगातोयसमानीतं सुवर्णकलशोद्धृतम् । आचमनं देवदेवेश प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

सामान्य स्नान गंधयुक्त जल शंख में भर कर कराना ।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्व्वहुतः संभृतंपृषदाज्यम् । पशूं स्तांश्चक्रेव्वा-यव्यानारण्याग्राम्याश्चये । गंगासरस्वतीतापी पयोष्णी नर्मदा-र्कजा । तज्जलैस्नापितोदेव तेनशान्तिंकुरुष्व मे ॥

पंचामृतस्नानम् प्रथम दुग्ध से स्नान कराना ।

ॐ पयः पृथिव्यांपयऽओषधीषुपयोदिव्यन्तरिक्षे पयोधाः । पयस्वतीः प्रदिशः सन्तुमह्यम् । कामधेनु समुद्भूतं सर्वेषां जीवनं परम् । पावनंयज्ञहेतुश्च पयः स्नानार्थमर्पितम् ॥

पुनः शुद्धोदकस्नानं तस्माद्यज्ञाद् मंत्र से । फिर आचमन के लिए जल चढ़ाना । दधिस्नानम् ।

ॐ दधिक्राव्णोऽअकारिषञ्जिष्णोरश्वस्यवाजिनः । सुरभिनोमुखाकरत्प्रणऽआयूंषितारिषत् । पयसस्तुसमुत्पन्नंमधुराम्लंशशिप्रभम् । दध्यानीतं मयादेव स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

फिर तस्माद्यज्ञाद् मंत्र से शुद्धोदक स्नान कराना । आचमन के लिये जल चढ़ाना । घृत स्नानम् ।

ॐ घृतम्मिमिक्षेघृतमस्ययोनिर्घृ तेश्रितोघृतम्वस्यधाम । अनुष्वधमावहमादयस्व स्वाहाकृतं वृषभवक्षिहव्यम् । नवनीतसमुत्पन्नं सर्वसंतोषकारकम् । घृतंतुभ्यंप्रदास्यामिस्नानार्थंप्रतिगृह्यताम् ॥

फिर शुद्धोदक स्नान और आचमन तस्माद्यज्ञाद् मन्त्र से

मधुस्नानम् ।

ॐ मधुवाताऽऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः । मधुनक्तमुतोषसोमधुमत्पार्थिवᳬरजः । मधुद्यौरस्तुनः

पिता ॥ मधुमान्नोवनस्पतिर्मधुमांऽअस्तु सूर्यः माध्वीर्गावोभवन्तु नः ॥ तरुपुष्पसमुद्भूतं सुस्वादुमधुरंमधु ॥ तेजः पुष्टिकरं दिव्यं स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

बाद में शुद्धोदक से स्नान और आचमन कराना।

शर्करा स्नानम्।

ॐ अपा ᳪ रसमुद्वयस ᳪ सूर्ये सन्त ᳪ समाहितम्। अपा ᳪ रसस्ययो रसस्तंवो गृह्णाम्युत्तम मुपयामगृहीतोसीन्द्रायत्वाजुष्टं गृह्णाम्येषतेयोनिरिन्द्रायत्वाजुष्टतमम् ॥ इक्षुसारसमुद्भूता शर्करापुष्टिकारिका। मलापहारिका दिव्या स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

पुनः शुद्धोदक स्नान और आचमन फिर पंचामृत मिलाकर स्नान कराना।

ॐ पंचनद्यः सरस्वती मपियन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पंचधासो देशे भवत्सरित् ॥ पयोदधिघृतंचैव मधु च शर्करायुतम्। पंचामृतं मयानीतं स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

शुद्धोदक स्नान और आचमन, चन्दनोदक स्नानम्।

ॐ गंधद्वारांदुराधर्षां नित्यपुष्टांकरीषिणीम्। ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥ मलयाचल संभूतं चन्दनागरुसंभवम्। चन्दनं देवदेवेश स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

फिर शुद्धोदक स्नान और आचमन कराना सुगन्धित द्रव्य (इत्र) से स्नान कराना।

ॐ अᳪशुनाते अᳪशुः पच्यतां परुषा परुः। गंधस्ते सोममवतु मदाय रसोऽअच्युतः ॥ नानासुगन्धि द्रव्यं च चन्दनं रजनीयुतम्। उद्वर्तनं मयादत्तं स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

बाद में शुद्धोदक स्नान और आचमन।

ॐ शुद्धवालः सर्वशुद्धवालोमणिवालस्त आश्विनः श्येतः श्येताक्षोरुणस्ते रुद्राय पशुपतयेकर्णायामा अवलिप्तारौद्रानभोरूपाः पार्जन्याः ॥

स्नान के पश्चात् पुरुषसूक्त की १६ ऋचाओं से अभिषेक करना। दो वस्त्र धोती दुपट्टा व अंगोछा। स्नान कराकर सिंहासन् पर तुलसी रखकर भगवान् की मूर्ति स्थापित कर बाद में पूजन करना।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्व्वहुतऋचः सामानियज्ञिरे। छन्दा थं सि यज्ञिरे। तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। शीतवातोष्णसंत्राणं परंलज्जानिवारणम्। सुत्रषधारिणं यस्माद्वासोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

आचमन, यज्ञोपवीत।

ॐ तस्मादश्वाऽअजायन्त येकचोभयादतः। गावोहजज्ञिरे-तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः॥ ब्रह्मणानिर्मितंसूत्रं विष्णुग्रन्थि-समन्वितम्। यज्ञोपवीतं परमं गृह्यतां च जनार्दन॥

यज्ञोपवीत के बाद आचमन।

चन्दन चढ़ाना।

ॐ तंयज्ञंवर्हिषिप्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवाऽअयजन्त-साध्याऽऋषयश्च ये। मलयाचलसम्भूतं शीतमानन्दवर्द्धनम्। काश्मीरघनसाराढ्यं चन्दनं प्रतिगृह्यताम्॥

अक्षत चढ़ाना *

ॐ अक्षन्नमी मदन्तह्यवप्रियाऽअधूषत। अस्तोषतस्वभावो विप्रानविष्टयामतीयोजान्विन्द्रते हरी॥ अक्षताश्च सुरश्रेष्ठा कुंकुमाक्ता सुशोभिता मयानिवेदिता भक्तयागृहाण परमेश्वर॥

---

* टिप्पणी-हारीत संहिता में अंबरीष और हारीत के संवाद में अक्षत चढ़ाना अध्यपाद्य में आया है तथा जो चढ़ाने का निषेध है चांवलों का नहीं है अचारादर्श में लिखा है।

ॐ अक्षुतास्तुययाप्रोक्ता इति आचारादर्श उक्तत्वाद्यवानामेवायं प्रतिषेध न तन्दुलानाम्।

पुष्प, पुष्पमाला चढ़ाना ।

ॐ यत्पुरुषंव्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन् । मुखंकिमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादाउच्येते । नानाविधानि पुष्पाणि ऋतुकालोद्भवानि च । मयार्पितानि सर्वाणि पूजार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥

तुलसी चढ़ाना ।

ॐ श्रीश्चते लक्ष्मीश्चपत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणिरूपमश्विनौव्यात्तम् । इष्णन्निषाण मुम्मऽइषाण सर्वलोकम्मऽइषाण ॥ तुलसी हेमरूपां च रत्नरूपां च मंजरीम् ॥ भवमोक्षप्रदा तुभ्यमर्पयामि हरिप्रियाम् ॥ ॥ धूपम् ॥

ॐ ब्राह्मणोस्य मखमासी द्बाहूराजन्यः कृतः । ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याथंशूद्रोऽअजायत ॥ वनस्पतिरसोत्पन्नं सुगंधाढ्यं मनोहरं । आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

घृत दीपम् ।

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्नि रजायत । घृतवर्त्तिसमायुक्तं तथाकर्पूरसंयुतम् । दीपं गृहाण देवेश त्रैलोक्यतिमिरापहं ॥ नैवेद्यम् ।

ॐनाभ्याऽआसीदन्तरिक्षठं० शीर्ष्णोद्यौः समवर्तत पद्भ्याम्भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां २ ऽअकल्पयन् ॥ अन्नंचतुर्विधंस्वादु रसैः षड्भिः समन्वितम् । भक्ष्यभोज्य समायुक्तं नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥

भोजनान्ते आचमनीयम् ।

ॐ यत्पुरुषेणहविषादेवायज्ञंमतन्वत । व्वसन्तोस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ उच्छिष्टोप्यशुचिर्वापि यस्यस्मरणमात्रतः । तस्मै ते परमेशाय शुद्धमाचमनीयकम् ।

ताम्बूल पुंगीफले ।

ॐ सप्तास्यासन्नंपरिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः । देवायद्यज्ञंतन्वानाऽअवध्नंपुरुषंपशुम् ॥ नागवल्लीदलंदिव्यं पुंगीकर्पूरसंयुतम् । वक्त्रं सुरभिकृत्स्वादु ताम्बूलं प्रतिगृह्यताम् ॥

ऋतुफलम् ।

ॐ याः फलिनीर्याऽअफला अपुष्पायाश्चपुष्पिणीः बृहस्पति-प्रसूतास्तानो मुंचन्त्वठं० हसः ॥ इद फल मयादेव स्थापितं पुरतस्तव । तेनमेसफलावाप्तिर्भवेज्जन्मनिजन्मानि ॥

दक्षिणा ।

ॐ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातःपतिरेकऽआसीत् । सदाधारपृथ्वीं द्यामुतमां कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥ हिरण्यगर्भ-गर्भस्थं हेमबीजंविभावसो अनन्तपुण्यफलदमतः शान्तिं प्रयच्छ मे ।

आरार्तिक्यम् ।

ॐइदठं०हविः प्रजननन्मेऽअस्तु दशवीरठं०सर्वगणस्वस्तये । आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि । अग्निः प्रजाम्बहुलाम्मकरोत्वन्नम्पयोरेतो अस्मासुधत्त । कदलीगर्भसंभूतं कर्पूरं च प्रदीपितम् । आरार्तिक्यमहंकुर्वे पश्यमेवरदोभव ॥

मन्त्र पुष्पाञ्जलि ।

ॐ यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । तेहनाकंमहिमानः सचन्त यत्र पूर्वेसाध्याः सन्तिदेवाः । ॐ राजा-धिराजायप्रसह्यसाहिने । नमो वयं वैश्रवणायकुर्महे । समेकान्काम-कामायमह्यं ॥ कामेश्वरो वैश्रवणोददातु । कुवेरायवैश्रवणाय राजाधिराजायमहाराजाय नमः । ॐ स्वस्तिसाम्राज्यंभौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्त पर्यायीस्यात्सार्वभौमसार्वायुषआन्तादापरार्द्धात्पृथिव्यैसमुद्रपर्यन्ता-याएकराडिति । तदप्येषः श्लोकोऽभिगीतोमरुतः । परिवेष्टारोमरुत्त-स्यावसन्गृहे आवीक्षितस्यकाम प्रेर्विश्वेदेवाः सभासदइति ॥ ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुतविश्वस्पात् ॥ संबाहुभ्यान्धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमीजनयन्देवऽएकः ॥

प्रदक्षिणा❀

ॐ ये तीर्थानिप्रचरन्तिसृता हस्तानिषंगिणः। तेषा ᳬ सहस्त्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ उपचारसमस्तैस्तु यत्पूजा च मयाकृता। तत्सर्वंपूर्णतांयातु प्रदक्षिणायाः प्रभावतः॥ यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च। तानि तानि प्रणश्यन्ति प्रदक्षिण पदे पदे॥

स्तुतिपाठ नमस्कार।

त्राहि मां पापिनंघोरंधर्म्माचारविवर्जितम्। नमस्कारेणदेवेश संसारार्णवयातिनम्॥ प्रपन्नंपाहिमामीश भीतंमृत्युग्रहार्णवात्!

जो अपना कार्य अभीष्ट होय उस कार्य के लिये जो मन्त्र हो उसे जपे। भगवान् का ध्यान करे। जप के पश्चात् दशांश का हवन करे चावल की खीर का। खीर में तिल, मेवा, खांड़, घी अवश्य मिलावे। हवन के पश्चात् बलिदान करे। बलिदान का मन्त्र वही होगा जिस मन्त्र का जप किया जायगा। बाऐं हाथ के अंगूठे और तर्जनी (सबसे छोटी उंगली के पास की उंगली) को मिला कर "एषबलि विष्णवे नमः" कह कर हलुए का बलिदान करना, जिसमें कम से कम एक मनुष्य का पेट भरे। वह बलिदान का पदार्थ किसी पात्र से ढक कर अपने सिरहाने रखना तथा कामना का ध्यान करते हुए मन्त्र को मुख से स्मरण करते हुए सो रहना। प्रातः बलिदान का हलुआ गाय को खिला देना।

❀ टिप्पणी

एकाचण्ड्या रवौसप्त तिस्रोदद्याद्विनायके। चतस्रः केशवेदद्याच्छिवस्यार्द्धप्रदक्षिणां॥

❀ इतिः। ❀



क्षमा-प्रार्थना।

आवाहनं नजानामि नजानामि विसर्जनम्। पूजांचैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वर॥१॥ अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम। तस्मात्कारुण्य भावेन क्षमस्व परमेश्वर॥२॥ गतं-पापं गतंदुःखं गतंदारिद्र्य मेव च। आगता सुख संपत्तिः पुण्याश्च तवदर्शनात्॥३॥ मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वर। यत्पूजितं मयादेव परिपूर्णं तदस्तु मे॥४॥ यदक्षर पदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्। तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर॥५॥ यस्यस्मृ-त्याच नामोक्त्यातपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं संपूर्णतांयाति सद्योवन्दे-तमच्युतम्॥६॥ प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषुयत्। स्मर-णादेवतद्विष्णो सम्पूर्णंस्यादितिश्रुतिः॥ अनयायथांपचारपूजया-श्रीभगवान्विष्णुः प्रीयतांनमम।

इतना बोल कर साष्टांग प्रणाम करे। विष्णु भगवान् का पंचामृत शंख के ऊपर परिक्रमा करके पात्र में रखकर पान करे और सिर पर धारण करे।

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधि विनाशनं। विष्णुपादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ भविष्ये॥ विष्णुपादाभिषिक्तं यः पात्रेणैवपिवेज्जलम्। सर्वपाप विनिर्मुक्तो सयाति परमां गतिम्॥ यः पादसलिलं विष्णोः करेणपिवते यदि। स मूढ़ो नरकंयाति यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

अथ गीतामाहात्म्य प्रारम्भः ॥

धरोवाच—

भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी । प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ! ॥ १ ॥

श्री विष्णुरुवाच—

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा । स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥ महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् । क्वचित्स्पर्शं न कुर्वंति नलिनीदलमंबुवत् ॥३॥ गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते । तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनितत्र वै

पृथ्वी बोली—हे भगवन् हे परमेशान भाग, भाग्य (ऐश्वर्य) को भोगते हुए हे प्रभो अव्यभिचारिणी भक्ति किस प्रकार होती है ॥१॥ श्री विष्णुजी बोले—भाग, भाग्य(ऐश्वर्य) को भोगते हुए जो (पुरुष) हमेशा (नित्य प्रति) गीता का पाठ करता है। वह मोक्ष (संसार में बार-बार नहीं जन्मता) पाता है। संसार में सुखी रहकर कर्मों से अलिप्त (अलहदा) रहता है ॥ २ ॥ जो (पुरुष) गीता का नित्य ध्यान करता है, उसको महापाप (ब्रह्म हत्या सुरापान) आदि पाप इस तरह नहीं छूते हैं जैसे कमल के पत्ते को जल नहीं छूता है ॥ ३ ॥ जिस घर में

॥ ४ ॥ सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः ॥ ५ ॥ सहायो
जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते । यत्र गीताविचारश्च
पठनं पाठनं श्रुतम् । तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि
सदैव हि ॥ ६ ॥ गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं
गृहम् । गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥७॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः । अर्धमात्राक्षरा
नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ८ ॥ चिदानंदेन कृष्णेन
प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् । वेदत्रयी परानंदा तत्त्वार्थज्ञान-
संयुता ॥९॥ योऽष्टादशजपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।

श्रीमद्भगवद्गीता रहती है तथा जहाँ नित्य पाठ होता है वहाँ पर प्रयाग आदि सर्व तीर्थ रहते हैं ॥ ४ ॥ सम्पूर्ण देवता, ऋषि, सर्प, योगी, गोपाल, गोपियाँ, नारद, उद्धव, तथा पार्षद आदि ॥ ५ ॥ सेवकों के साथ जहाँ गीता का पाठ होता है वहाँ सहायता के लिये (भगवान्) जल्दी आते हैं भगवान् बोले— हे पृथ्वी जिस स्थान पर गीता का मनन होता है पाठ होता है पढ़ी जाती है पढ़ाई जाती है सुनी जाती है सुनाई जाती है वहाँ मैं निश्चय ही वास करता हूँ ॥६॥ मैं गीता के आश्रय ठहरता हूँ । गीता मेरा उत्तम स्थान (घर) है । गीता का ज्ञान पाकर (मिलने पर) मैं तीन लोक पालता हूँ ॥ ७ ॥ गीता मेरी ब्रह्म स्वरूप परमा विद्या है इसमें संशय नहीं है और न नष्ट होने वाली नित्या आधी मात्रा वाली, अपने आप कहने लायक पद वाली है ॥ ८ ॥ चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुख से तीन वेद अत्यन्त आनन्द देने वाली जो कि तत्वों के अर्थ ज्ञान अर्थात्

ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ १० ॥ पाठे-ऽसमर्थः संपूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् । तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ११ ॥ त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् । षडंशं जपमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत् ॥ १२ ॥ एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्ति संयुतः । रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥१३॥ अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः । स याति नरतां यावन्मन्वंतरं वसुंधरे ॥१४॥ गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम् । द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥१५॥ चंद्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।

ख़ास मतलब वाली गीता को अर्जुन से कहा ॥९॥ जो (पुरुष) निश्चल मन (शान्त चित्त) से अष्टादश १८ अध्याय नित्य पढ़ता है । वह ज्ञान वाला हो जाता है तदनन्तर मोक्ष पाता है ॥१०॥ पूरे १८ अध्याय पाठ न कर सके तो आधे ९ अध्याय का पाठ करे आधे पाठ करने से गऊ के दान के समान पुण्य पाता है इसमें सन्देह नहीं है ॥११॥ त्रिभाग अर्थात् ६ अध्याय के पाठ करने से सोमयाग का फल मिलता है । षडंश अर्थात् ३ अध्याय का पाठ करने से गंगा स्नान के समान फल मिलता है ॥ १२ ॥ यदि जो पुरुष एक अध्याय का पाठ नित्य भक्ति पूर्वक करता है वह रुद्र लोक अर्थात् कैलाश पर्वत पर शिव के गणों के साथ आनन्द पाता है ॥ १३ ॥ हे पृथ्वी इस गीता के १ अध्याय अथवा १ श्लोक का पाद (चौथा हिस्सा) जो मनुष्य नित्य पाठ करता है वह मन्वन्तर तक मनुष्य योनि में वास करता है ॥ १४ ॥ जो मनुष्य गीता के दश, सात, पाँच, चार

गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥१६॥ गीता-
भ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम्। गीतेत्युच्चार
संयुक्तो म्रियमाणो गतिंलभेत् ॥१७॥ गीतार्थश्रवणासक्तो
महापापयुतोऽपि वा। वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह
मोदते ॥ १८ ॥ गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि
भूरिशः। जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहांते परमं पदम् ॥१९॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः। निर्धूतकल्मषा
लोके गीता याताः परं पदम् ॥२०॥ गीतायाः पठनं कृत्वा
माहात्म्यं नैव यः पठेत्। वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव

दो, तीन, एक अथवा आधा श्लोक नित्य पाठ करता है ॥१५॥ वह निश्चय करके अयुत (दश सहस्र) वर्ष पर्यन्त चन्द्रलोक में वसता है। और जो पुरुष गीता का पाठ करते हुए अपने शरीर को त्याग करता है वह मनुष्य योनि में निवास करता है फिर गीता पाठ को करता हुआ उत्तम मुक्ति को प्राप्त होता है। और जो पुरुष केवल गीता शब्द को उच्चारण करता हुआ मरने पर शुभ गति को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ महा पापी भी यदि गीता के अर्थ को सुनते हुए शरीर छोड़े तो वैकुण्ठ अर्थात (विष्णु लोक) को प्राप्त होकर विष्णु भगवान् के साथ आनन्द भोगता है ॥ १८ ॥ नित्य प्रति अनेक कार्यों को करता हुआ केवल जो गीता के अर्थ का पाठ करता है उसको जीवन मुक्त अर्थात् मोक्ष वाला समझना तथा मरने पर परमपद प्राप्त करता है ॥१९॥ गीता के ध्यान में आश्रित होकर जनक आदि बहुत से राजा संसार में सम्पूर्ण पापों को धोकर परमपद को प्राप्त हुए ॥ २० ॥ जो गीता का पाठ करके माहात्म्य को नहीं

ह्यु दाहृतः ॥२१॥ एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः । स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभांगतिमाप्नुयात् ॥२२॥

सूत उवाच—

महात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् । गीतांते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ २३ ॥

* इति श्रीवाराहपुराणे श्रीगीतामाहात्म्यं संपूर्णम् *

पढ़ता है उसके पाठ का श्रम वृथा है ॥ २१ ॥ और जो पुरुष इस माहात्म्य के साथ-साथ गीता का पाठ करता है वह गीता के पाठ का फल पाता हुआ दुर्लभ गति को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ सूतजी बोले—यह सनातन गीता का माहात्म्य मैंने तुमसे कहा है गीता के अन्त में जो इसका पाठ करता है उसको ऊपर लिखे हुए अनुसार फल मिलता है ॥ २३ ॥

इति आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत वाराह पुराणोक्त श्री गीता माहात्म्य की भाषा टीका समाप्त हुई ॥

श्रीमद्भगवद्गीताध्यानादि ।

श्री गणेशाय नमः । श्री गोपालकृष्णाय नमः ।

ॐ अस्य श्री श्रीमद्भगवद्गीतामालामंत्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥ श्रीकृष्णः परमात्मा देवता ॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्चभाषस इति बीजम् ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रजेति शक्तिः ॥ अहं त्वा सर्वपापेभ्योमोचयिष्यामि मा शुच इतिकीलकम् ॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनंदहति पावक

इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ।। नचैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः ।। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय-मक्लेद्योऽशोष्यएवचेति मध्यमाभ्यां नमः ।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयंसनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः ।। पश्यमेपार्थरूपाणि शतशोऽथ सहस्रशइतिकनिष्ठिकाभ्यां नमः ।। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनिचेति करतल करपृष्ठाभ्यां नमः ।। इति करन्यासः ।। अथ हृदयादिन्यासः ।। नैनंछिंदंतिशस्त्राणिनैनंदहति पावक-इतिहृदयाय नमः ।। न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा ।। अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्यो-ऽशोष्य एव चेति शिखायै वषट् ।। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम् ।। पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट् ।। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनिचेति अस्त्राय फट् ।। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः ।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयम् व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् । अद्वैता-मृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमंब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।। १ ।। नमोऽस्तु ते व्यास

भगवान् नारायण ने स्वयं अर्जुन को गीता पढ़ाई महा भारत के बीच में पुराण मुनि श्री व्यासजी ने रची ऐसी हे अद्वैतामृत वर्षिणि अष्टादश (१८) अध्याय वाली संसार के

विशालबुद्धे फुल्लारविंदा यतपत्रनेत्र। येन त्वया भारत-
तैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥ प्रपन्न-
पारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीता-
मृतदुहे नमः ॥ ३ ॥ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल-
नंदनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्
॥ ४ ॥ वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्। देवकीपरमा-
नंदं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥ भीष्मद्रोणतटा जय-
द्रथजला गांधारनीलोत्पला। शल्यग्राहवतीकृपेण वहनी
कर्णेन वेलाकुला अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधना-
वर्तिनी। सोत्तीर्णा खलु पांडवै रणनदी कैवर्तकः केशवः
॥ ६ ॥ पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगंधोत्कटं।

बंधन से छुड़ाने वाली हे माता तुमको धारण करता हूँ ॥ १ ॥
हे विशाल बुद्धि खिले हुए कमल के आकार के समान बड़े-बड़े
नेत्र वाले व्यास तुमने भारत रूपी तैल से भरा ज्ञान वाला
दीपक जलाया है इसके लिये तुमको नमस्कार है ॥२॥ कमल
लिये हुए मुरली लिए हुए ज्ञान मुद्रा धारण किये हुए गीतामृत
दुहने वाले श्रीकृष्ण भगवान् को नमस्कार है ॥ ३ ॥ सब उप-
निषद् गाएँ हैं दोहने वाले गोपनंदन (कृष्ण) हैं। अर्जुन
बछड़ा है विद्वान् भोगने वाले हैं गीतामृत उत्तम दूध है ॥ ४ ॥
वसुदेव के लड़के कंस और चाणूर को मारने वाले देवकी को
आनन्द देनें वाले जगद्गुरु श्रीकृष्ण को सिर नवाता हूँ ॥५॥
भीष्म और द्रोणाचार्य तट हैं। जयद्रथ जल है। गांधारी नीला
कमल हैं। शल्य ग्राह है कर्ण लहरें हैं अश्वत्थामा विकर्ण बड़े-बड़े
मगर हैं। दुर्योधन भंवर है ऐसी रण रूपी नदी पाण्डवों ने केशव

नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ॥ लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा । भूयाद्भारतपंकजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥ मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् । यत्कृपा तमहं वंदे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥ यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्तिदिव्यैः स्तवैर्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥ ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो । यस्यांतं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

* इति ध्यानम् *

(केवट) नाव चलाने वाले के साथ तैर कर पार की ॥ ६ ॥ पाराशर्य (व्यास) के वचन मल रहित सुन्दर कमल हैं। गीता का अर्थ तेज सुगन्धि है। हरि की कथा को बताने के लिये कही गई अनेक कथा रूपी केसर से सुन्दर कमल को संसार में सज्जन रूपी भौंरों के द्वारा प्रतिदिन पान करी गई यह कलियुग का मल नष्ट करन वाला भारत रूपी कमल हमारे कल्याण के लिए हो ॥७॥ जिसकी कृपा गूंगे को वाचाल करती है। लूला पहाड़ लांघता है ऐसे परमानन्द माधव को मैं शिर नवाता हूँ ॥ ८ ॥ जिसकी ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र, वायु दिव्य स्तोत्रों से स्तुति करते हैं। जटा घन आदि क्रम से उपनिषदों से जिसे सामवेद गाने वाले गाते हैं ध्यान लगाकर उसमें मन लगाकर जिसको योगी देखते हैं जिसका अन्त देव, राक्षस आदि कोई भी नहीं जानते उस देवता को मैं प्रणाम करता हूँ ॥

इति आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत श्री गीता के ध्यान आदि की भाषा टीका समाप्त ॥



सेठ घनश्यामदास भगत श्रीलक्ष्मीनारायणजी गोस्वामी

ग्र

पां

मुप

पांड्
संज
पाए

है कौ
को
हैं।
युद्ध

दिया
युद्ध

* श्री गोपाल कृष्णाय नमः *

अथ श्रीमद्भगवद्गीता प्रारम्भः



प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः । मामकाः पांडवाश्चैव *किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा । आचार्य-मुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥ पश्यैतां पांडु-

---

धृतराष्ट्र बोला—हे सञ्जय ! धर्म क्षेत्र की भूमि में मेरे और पांडु के पुत्रों ने युद्ध की इच्छा से इकट्ठा होकर क्या किया ॥१॥ संजय बोला—उस समय व्यूह (क़िलेबंदी) से सजी हुई पाण्डवों की सेना को देखकर राजा दुर्योधन (द्रौण) आचार्य के

टिप्पणी—हस्तिनापुर के चारों ओर की पृथ्वी का नाम कुरुक्षेत्र है कौरव पाण्डवों के पूर्व पुरुष कुरु नामक राजा ने इस सारे मैदान को हल से जोत कर शुद्ध किया था इसी से इसको क्षेत्र (खेत) कहते हैं । तथा इस कुरु को देवराज इन्द्र का वरदान था कि जो इसमें धर्म से युद्ध वा तप कर मरेंगे उनको स्वर्ग होगा । यही धर्मक्षेत्र व कुरुक्षेत्र है ।

* क्या किया यह धर्म क्षेत्र है इससे दुर्योधन ने ही आधा राज्य दे दिया अथवा युधिष्ठर ने ही विचार किया कि कुल का नाश होगा सो युद्ध बन्द किया वा युद्ध ही किया ।

पुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्। व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥ अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि। युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च *महारथः॥४॥ धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्। पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥ युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान्। सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥ अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम। नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते

समीप जाकर यह बोला ॥२॥ हे आचार्य! पाण्डवों की बड़ी व्यूहाकार सेना को देखिये जिसको तुम्हारे बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने करी है ॥३॥ इस पाण्डवों की सेना (शकटाकार वा पद्माकार) में बड़े-बड़े शूर महाधनुर्धारी भीम और अर्जुन के समान युयुधान (सात्यकि) विराट् महारथी द्रुपद ॥४॥ †धृष्टकेतु, चेकितान बलवान काशिराज, पुरुजित् कुन्तिभोज और शैव्य ॥५॥ और इसी तरह पराक्रमी युधामन्यु बलवान् उत्तमौजा तथा सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के ५ पुत्र प्रतिविंध्यादिक यह सब महारथी हैं ॥ ६ ॥ हे द्विज श्रेष्ठ! अपने पक्ष में जो प्रधान-प्रधान सेनापति हैं

---

*जो अकेला ही १० हजार धनुर्धारी योधाओं को हरा दे तथा शस्त्र शास्त्र के मर्मों का जानने वाला महारथी होता है ॥ अपनी आत्मा सारथी घोड़ों को बचाता हुआ। जो१०हजार योधाओं को जीतता है वह महारथी है। †धृष्ट केतु शिशुपाल का बेटा था। कुन्ति भोज का पुत्र पुरुजित् युधिष्ठिर आदि का मामा था। युधामन्यु और उत्तमौजा पंजाब के राजा थे। चेकितान यादव था शैव्य शिबिदेश का राजा था।

॥ ७ ॥ भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥ अन्ये
च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः । नानाशस्त्रप्रहरणाः
सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥ अपर्याप्तं तदस्माकं बलं
भीष्माभिरक्षितम् । पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षि-
तम् ॥ १० ॥ अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि ॥ ११ ॥ तस्य
संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः । सिंहनादं विनद्योच्चैः

उनके नाम मैं आपको कहता हूं ध्यान से सुनिये॥७॥ आप (द्रोणा-चार्य) भीष्म (भीष्म पितामह) कर्ण, अजेय कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन का भाई विकर्ण और सोमदत्त का भाई (भूरिश्रवा) ॥८॥ अतिरिक्त इनके और भी बहुत से शूर मेरे अर्थ प्राण त्यागने को उद्यत हैं और सभी प्रकार के अस्त्र शस्त्र चलाने में कुशल और युद्ध विद्या में चतुर हैं ॥९॥ अब हमारी यह सम्पूर्ण सेना जिसकी रक्षा *भीष्मपितामह कर रहे हैं अपर्याप्त (बहुत) सब प्रकार से अजेय है एवं पाण्डवों की सेना जिसकी रक्षा भीम कर रहा है (पर्याप्त) थोड़ी है ॥ १० ॥ सो सब ध्यान रखना, सब द्वारों पर पितामह को रक्षा करनी उत्तम है ॥११॥ इसी अवसर में दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए प्रताप-

* महा बलवान् सिंह की रक्षा न करें तो वृक (भेड़िया) सिंह को मार देगा। इस कारण फेरु (गीदड़) के समान शिखंडी से सिंह के बराबर भीष्मपितामह को रक्षा हम सब को करनी चाहिए क्योंकि भीष्मपितामह शिखंडी पर शस्त्र नहीं चलावेंगे (यह स्त्री होकर जन्मा था पुरुष बाद में हुआ था।)

शंखं दध्मौप्रतापवान् ॥ १२ ॥ ततः शंखाश्च भेर्यश्च
पणवानकगोमुखाः । सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलो-
ऽभवत् ॥ १३ ॥ ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने
स्थितौ । माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः
॥ १४ ॥ पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः । पौण्ड्रं
दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥ अनंत-
विजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवश्च
सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥ काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी
च महारथः । धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः

वान् वृद्ध कौरव भीष्म पितामह (सेनापति) ने सिंह के समान गर्जन करने वाला दुर्योधन के हृदय को हर्ष उत्पन्न करने वाला शंख बजाया ॥१२॥ अर्थात् पाँडवों को युद्ध की सूचना दी। अनन्तर इसके साथ ही साथ अनेक शंख भेरी पणव, (ताशे) आनक गोमुख (लड़ाई के बाजे) आदि एक दम बजने लगे जिससे इनका शब्द ऊँचा हो अत्यन्त गूंज गया ॥१३॥ तिसके बाद श्वेत घोड़ों से सजे हुए रथ में बैठे हुए माधव (कृष्ण) और पाण्डव (अर्जुन) ने भी यह बतलाने के लिये कि हम लोग भी सब युद्ध करने को तय्यार हैं (सूचनार्थ) उत्तम शंख बजाये ॥१४॥ हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी) श्रीकृष्ण ने पाञ्च-जन्य (नामक शंख) अर्जुन ने देवदत्त उग्रकर्म करने वाले वृकोदर अर्थात् भीमसेन ने पौण्ड्र नाम बड़ा शंख बजाया॥१५॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, सुघोष नकुल तथा सहदेव ने मणि पुष्पक शंख बजाया ॥१६॥ विशाल धनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, और धृष्टद्युम्न, अजेय

॥१७॥ द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते। सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥ स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्। नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥ अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः। प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥ हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥ यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धु कामानवस्थितान्। कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥ योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः। धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

सात्यकि, ॥१७॥ द्रुपद, द्रौपदी के (प्रतिविन्ध्यादि) ५ पुत्र थे महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु) इन सब ने हे राजन् (धृतराष्ट्र) सब ओर अपने २ पृथक् २ शंख बजाए ॥१८॥ इस सब आकाश व पृथ्वी को हिलाने वाले घोर शब्द ने कौरवों के हृदय को विदीर्ण कर दिया ॥१९॥ तदुपरान्त हे राजन् (धृतराष्ट्र) कौरवों को युद्ध करने के लिये उद्यत शस्त्रों से सुसज्जित खड़ा देख कर कपिध्वज पाण्डव अर्थात् अर्जुन ने ॥२०॥ श्रीकृष्ण से कहा—अर्जुन बोला—हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये ॥२१॥ जब तक मैं इन सब युद्ध की कामना वालों को देख सकता हूँ तथा मुझको इस रण में किन के साथ लड़ना है ॥२२॥ इस लड़ाई में दुर्बुद्धि

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत । सेनयोरु-
भयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥ भीष्मद्रोण-
प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् । उवाच पार्थ पश्यैतान्सम-
वेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥ तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ
पितामहान् । आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखीं-
स्तथा ॥ २६ ॥ श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौंतेय सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

दुर्योधन की भलाई करने की इच्छा से यहाँ जो लड़ने के लिये इकट्ठे हुए हैं, उनको मैं देखूंगा ॥२३॥ सञ्जय ने कहा—हे धृतराष्ट्र ! गुडाकेश (निद्रा को जीतने वाले) अर्जुन के इस प्रकार कहने पर हृषीकेश श्रीकृष्ण ने उस (अर्जुन) के सुन्दर रथ को दोनों सेनाओं के बीच में लेजा कर खड़ा कर दिया और ॥२४॥ भीष्म, द्रोण तथा सब राजाओं के समक्ष बोले हे अर्जुन ! यहाँ इकट्ठे हुए इन कौरवों को देख ॥२५॥ अनन्तर अर्जुन ने देखा कि वहाँ पर इकट्ठे हुए सम्पूर्ण बड़े वृद्धपिता, दादा, आचार्य, मामा, भाई, बेटे, नाती मित्र ॥२६॥ स्वसुर, तथा स्नेही दोनों सेना में हैं, देख कर यह सभी हमारे बान्धव हैं, कुन्ती पुत्र अर्जुन ॥२७॥ अत्यन्त करुणा से व्याकुल होता हुआ खिन्न हो यह कहने लगा—अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! लड़ाई की इच्छा से इकट्ठे हुए अपने कुटुम्बियों को देख कर ॥२८॥

सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥ गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥ निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥ न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। किं नो राज्येनगोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥ येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥ आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।

मेरे सब अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूखता है शरीर कंपायमान होकर रोमांच खड़े हो गए हैं ॥२९॥ गांडीव (धनुष) हाथ से गिरता है और सब शरीर में जलन सी हो रही है, मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता और मेरा मन घूम रहा है ॥३०॥ एवं हे केशव ! ये लक्षण मुझे प्रतिकूल दीखते हैं ऐसे ही अपने बन्धुजनों को संग्राम में मार कर कल्याण हो ऐसा नहीं देखता हूँ ॥३१॥ हे कृष्ण ! मुझको जीतने की इच्छा नहीं है, न राज्य तथा सुख ही चाहिये हे इन्द्रियों के स्वामी गोविन्द ! राज्य भोग अथवा जीवित रहते ही मुझको क्या ऐश्वर्य होगा ॥३२॥ जिन अपने आत्मीय जनों के लिये राज्य भोग और ऐश्वर्य को भोगने की इच्छा थी, सो वे ही सब लोग जीव और सम्पत्ति की आशा छोड़ कर लड़ने को तैयार खड़े है ॥३३॥ आचार्य (गुरु द्रोणाचार्य) बालक, वृद्ध लड़के, दादा, मामा, श्वसुर नाती साले तथा और सम्बन्धी ॥ ३४ ॥ जो यह सम्पूर्ण

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । अपित्रैलोक्य-
राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥ निहत्य धार्त-
राष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन । पापमेवाश्रयेदस्मा-
न्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥ तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्त-
राष्ट्रान्स्वबांधवान् । स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः
स्याम माधव ॥ ३७ ॥ यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहत-
चेतसः । कुलक्षयकृतं दोषः मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

(पांडवों को) मारने के लिये उद्यत हैं तो भी हे मधु नामक राक्षस को मारने वाले मैं इन तीनों लोक के राज्य लेने की भी इच्छा नहीं करता हूँ फिर इस तुच्छ पृथ्वी की क्या बात है ॥३५॥ हे जनार्दन इन (दुर्योधनादि) कौरवों को जो यह हमारे बान्धव हैं) मार कर अपना क्या कल्याण होगा ? तथा *आततायी हैं इनको मारने से तो पाप ही बढ़ेगा ॥३६॥ इस कारण हमें अपने ही कुटुम्बियों को मारना योग्य नहीं है, हे माधव हम कुटुम्बियों को मार कर सुख भोग सकेंगे ? ॥ ३७ ॥ लोभ के कारण जिनकी मेधा (बुद्धि) नाश हो गई है, उनको कुल के नाश होने वाला दोष और मित्र द्रोह का पाप दिखाई नहीं देता है ॥ ३८ ॥ तौ भी हे जनार्दन कुल के नाश करने का पाप हमें सामने दीख रहा है इस कारण इस पाप से पीछे हटने

---

*वसिष्ठ स्मृति ३।१६ में कहा है कि घर में आग लगाने वाला, विष (जहर) खिलाने वाला बिना हथियार वालों को हथियार से मारने वाला, जबरदस्ती धन लूटने वाला, तथा स्त्री और खेत को चुराने वाला इन छहों आततायियों को मनु महाराज ने८।३५०।३५१ मारने की आज्ञा दी है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् । कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥ कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः । धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥ अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः । स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥ संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च । पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥ दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः । उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥ उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन । नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

के लिये मेरे विचार कैसे न होंगे ॥३९॥ आज कुल का नाश होने से जो दोष होंगे सो सुनिये। कुल का नाश होने से सनातन कुल के धर्म नाश हो जाते हैं एवं कुल के धर्म नष्ट होने से शेष सम्पूर्ण कुल पर अधर्म का अधिकार हो जाता है॥४०॥ हे कृष्ण! अधर्म बढ़ने से कुल की स्त्रियाँ बिगड़ती हैं, हे वार्ष्णेय (वृष्णि वंश में होने वाले कृष्ण)! स्त्रियों के बिगड़ने पर (व्यभिचार बढ़ने पर) वर्णसंकर सन्तान होती है॥ ४१ ॥ एवं वर्णसंकर सन्तान होने से वह कुल घातक तथा सम्पूर्ण कुल को नरक में प्राप्त करता है, इसी प्रकार पिण्डदान और तर्पणश्राद्धादि क्रियाओं के नष्ट हो जाने पर उनके पितृ भी पतन हो जाते हैं ॥ ४२ ॥ कुल घातकों द्वारा वर्णसंकर बढ़ाने वाले दोषों से प्राचीन जाति धर्म और कुल धर्म उत्सन्न (जड़ से नष्ट) हो जाते हैं ॥४३॥ हे जनार्दन! हमने ऐसा सुना है कि जिन मनुष्यों के कुल धर्म उत्सन्न हो जाते हैं उनको अवश्य ही नरकवास करना होता

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् । यद्राज्यसुख-
लोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥ यदि मामप्रतीकारम-
शस्त्रं शस्त्रपाणयः । धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं
भवेत् ॥ ४६ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य स शरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे-
ऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

है ॥४४॥ जरा विचार कर देखो तो ! हम राज्य सुख के कारण लोभ से स्वजनों को मारने के वास्ते तयार हैं अवश्य हमने यह एक महान् पाप करने की योजना की है ॥४५॥ इसके बदले मेरी विशेष भलाई तो इससे होगी कि मैं हथियार फेंक कर बदला लेना छोड़ दूँ और ये सब शस्त्र लिये हुए कौरव मुझको मार गेरें। ॥४६॥ सञ्जय बोला । इस तरह रणक्षेत्र में कहता हुआ शोक से व्याकुल चित्त अर्जुन हाथ में से धनुष बाण फेंक कर *रथ में ही पीछे बैठ गया ॥४७॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत
प्रथम अध्याय की भाषा समाप्त ॥

---

* प्राचीन काल में रथ २ पहियों के ही विशेष होते थे। घोड़े किसी में दो और किसी में ४ होते थे। रथ के ऊपर झंडा लगा रहता था; अर्जुन के रथ पर झंडे में प्रत्यक्ष हनुमान जी बैठे थे।

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥ क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥ गुरूनहत्वा हि

सञ्जय बोला—इस तरह करुणा से व्याप्त आँखों में आँसू भरे हुए तथा विषाद युक्त (घबड़ाए हुए) अर्जुन से मधुसूदन यह कहने लगे ॥१॥ श्री भगवान् बोले—हे अर्जुन ! इस संकट के समय में यह मोह (ममता) कहाँ से प्राप्त हुआ, जिसका सत् पुरुषों ने आचरण कभी नहीं किया, जो कि अधोगति (नरक) में पहुँचाने वाला है तथा अत्यन्त बुराई का कारण है ॥२॥ हे पार्थ ! इस प्रकार नपुंसक मत बन। यह तुझको कल्याण कारक नहीं अरे शत्रुओं को तपाने वाले ! अपने हृदय से इस थोड़ी कमजोरी को दूर कर अर्थात् लड़ाई के लिये खड़ा हो ॥३॥ अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन मैं पूजनीय दादा भीष्म पितामह तथा गुरु द्रोणाचार्य और हे शत्रुनाशन ! इनके साथ

महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥ न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः। यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥ *कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥ न हि प्रप-

---

वाणों से किस तरह लड़ूँगा ॥४॥ महात्मा गुरुजनों को न मार कर इस संसार में भिक्षा वृत्ति करके अपना पेट पालना अच्छा है परञ्च लोभ(†अर्थ)वश होकर गुरु (वृद्ध) पुरुषों को मारकर मुझे इसी संसार में उनके रक्त से रंगे हुए भोग (सुख) भोगने पड़ेंगे ॥५॥ हम लड़ाई में जीतें वा हम को वे लोग जीत लें—इन दोनोंमें भलाई क्या है, यह समझ में नहीं आता, जिनको मार कर जिन्दा रहने की इच्छा नहीं वे सब ये कौरव लड़ने के लिये सामने खड़े हैं ॥६॥ अविद्या रूप अज्ञानता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नाश हो गई मुझको कर्त्तव्य अर्थात् क्या करना धर्म है। सो भूल गया हूँ, इसलिये आपसे पूछता हूँ जो ठीक भलाई कारक हो मुझको बताओ मैं आपका शिष्य हूँ। मैं आपकी शरण में प्राप्त हूँ बताइये ॥ ७ ॥ अर्थात् पृथ्वी का समग्र निष्कंटक राज्य वा देवताओं (स्वर्ग) का भी प्रभुत्व प्राप्त हो जाय तब भी मुझको ऐसा कुछ भी, (उपाय) नहीं

---

*इसको १२९००० जपने से स्वप्न द्वारा कार्य की सिद्धि मालूम होगी।

† कहा भी है। मनुष्य अर्थ (धन) का दास है और अर्थ किसी का गुलाम नहीं है। इस कारण हे युधिष्ठिर महाराज ! कौरवों ने मुझको अर्थ (धन) से बाँध रखा है।

श्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् । अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः । न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥ तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

श्रीभगवान् उवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे । गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥ न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः

मालूम होता जो मेरी इन्द्रियों को संकीर्ण करने वाले शोक को दूर कर दे ॥८॥ सञ्जय बोला—इस तरह गुडाकेश अर्थात् शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ने (श्रीकृष्णं) से कहा और "मैं युद्ध न करूँगा।" ऐसा कह कर शान्त हो गया ॥९॥ हे भारत (धृतराष्ट्र) दोनों सेनाओं के मध्य भाग में शोक से(इधर क्षात्र धर्म उधर गुरु हत्या एवं कुलक्षय के पातकों का भय इस ही खीचातानी में मरें या मारें) व्याकुल बैठे हुए अर्जुन से कुछ मुसकराते हुए श्रीकृष्ण भगवान् बोले ॥ श्री भगवान् ने कहा—जिन पुरुषों का शोक (रंज) नहीं करना चाहिए, सो तू उन सब का शोक करता हुआ ज्ञान की बातें कर रहा है ! किसी के प्राण जांय अथवा रहें पंडित लोग उनका शोक नहीं करते हैं ।११॥ विचार कर देखो, इस प्रकार तो है नहीं कि पूर्व में मैं कभी नहीं हुआ था तू और ये सब राजा

सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥ देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं
यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥
मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापा-
यिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्वभारत ॥१४॥ यं हि न व्यथ-
यंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय
कल्पते ॥ १५ ॥ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते
सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्यय-

लोग न थे एवं इस प्रकार भी ऐसा न हो सकता कि हम सब लोग अब आगे न होंगे ॥१२॥ जिस तरह शरीर धारण करने वाले मनुष्य को इस शरीर में बाल्य (बालक) युवा तथा बुढ़ापा होता है उसी तरह (आने वाला) दूसरा शरीर मिलता है। इस कारण इस विषय में ज्ञानीजन को मोह (भ्रम) नहीं होता है ॥१३॥ हे कुन्तिपुत्र! सर्दी गर्मी अथवा सुख दुःख देने वाले मात्र हैं अर्थात् बाहर की सृष्टि के पदार्थों (इन्द्रियों) द्वारा जो संयोग हैं, उन्हीं की पैदाइश और नाश होता है, इस कारण वे सब अनित्य अथवा विनाशवान हैं, हे भारत (अर्जुन)! शोक को त्याग कर उनका सहन कर ॥१४॥ हे नरश्रेष्ठ! सुख तथा दुःख को बराबर जानने वाले जिस ज्ञानी पुरुष को इन सब की व्यथा नहीं प्राप्त होती वही अमृत ब्रह्म की प्राप्ति में समर्थ होता है ॥१५॥ जो पदार्थ नहीं है वह हो नहीं सकता तथा जो पदार्थ है वह नाश नहीं होता, तत्व के जानने वाले मनुष्यों ने सत् व असत् को देख कर ही उनके स्वरूप का निश्चय किया है ॥१६॥ याद रखिये, इस सम्पूर्ण संसार को जिसने प्रगट

स्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥ अन्तवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धयस्व भारत ॥१८॥ य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥१६॥ न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥ वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥२१॥

अथवा व्याप्त किया है वह (आत्म स्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यक्त तत्व (जिसका नाश न हो सके) का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है ॥१७॥ सारांश कि जो शरीर का मालिक (आत्मा) नित्य, अविनाशी तथा अचिन्त्य है, उसको प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशवान् अर्थात् अनित्य हैं। इस कारण हे भारत (अर्जुन) तू युद्ध कर ॥१८॥ शरीर के मालिक (वा आत्मा) को ही जो पुरुष मारने वाला मानता है, अथवा ऐसा ही जानता है वह ही मारा जाता है, उन दोनों को ही सत्य ज्ञान नहीं है इस कारण (आत्मा) न तो मरता है न मारा जाता है ॥१६॥ यह (आत्मा) न कभी पैदा होता है और न नाश ही होता है, ऐसा नहीं है किन्तु यह एक वार पैदा होकर फिर न हो, यह (आत्मा) अजन्मा, किन्तु शाश्वत तथा पुरातन है यदि शरीर का बध हो जाय तो यह (आत्मा) नहीं मरता है ॥२०॥ हे पार्थ! जिसको यह ज्ञान हो गया कि आत्मा अविनाशी (कभी नाश न होने वाला) नित्य (हर समय मौजूद रहने वाला) अजर, अजन्मा (अर्थात् कभी जन्म न लेने

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो-
ऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति
नवानि देही ॥ २२ ॥ नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति
पावकः। न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः
सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥ अव्यक्तो-
ऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवं विदित्वैनं

वाला) अव्यय (जो कभी खर्च में काम न आवे) है वह पुरुष दूसरे व्यक्ति को कैसे नष्ट करावेगा वा मारेगा ॥२१॥ जिस तरह कोई आदमी अपने पुराने कपड़ों को त्याग कर और नये बनवा कर पहनता है उसी तरह इस शरीर का स्वामी (आत्मा) पुराने वस्त्र रूप शरीर को त्याग कर नवीन शरीर को धारण करता है ॥२२॥ इस आत्मा को शस्त्र (हथियार) काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, उसी प्रकार पानी भिगो व गला नहीं सकता तथा हवा भी सुखा नहीं सकती है ॥२३॥ किसी काल में भी न कट सकने वाला, न जलने वाला न भीगने वाला तथा न सूखने वाला यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा सनातन है ॥२४॥ आत्मा ही को अव्यक्त (जो इन्द्रियों को भी गोचर मालूम न हो) अचिन्त्य (जो मन से भी न जाना जाय) अविकार्य (जिसमें किसी विकार का लेश

चमू सेना—७२९ रथ, ७२९ हाथी, २१८७ घोड़े, ३६४५ पैदल। इससे तिगुनी अनीकिनी सेना—२१८७ रथ, २१८७ हाथी, ६५६१ घोड़े, १०९३५ पैदल। इससे दस गुनी अधिक अक्षौहिणी का प्रमाण—२१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े, १०९३५० पैदल।

नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् । तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥ जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदतितथैव चान्यः । आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव

मात्र भी न हो) कहते हैं । इस कारण आत्मा को ऐसा समझ तुझको इसका शोक करना उचित नहीं है २५॥ इसके अनन्तर यदि तू इस प्रकार मानता हो कि यह आत्मा शरीर के साथ ही जन्म लेता व मरता है (नित्य नहीं) तब भी हे महाबाहु आत्मा का शोक करना तुझको ठीक नहीं है ॥२६॥ इस कारण जो पैदा होता है वह मरता अवश्य है, और जो मरता है उसका जन्म अमिट है इसलिए ऊपर लिखे वाक्य को तेरे मत से भी शोक करना तुझको ठीक नहीं है ॥२७॥ सब भूत (प्राणी) उत्पत्ति के आरम्भ काल में अव्यक्त (इन्द्रियों से अगोचर रहते हैं) मध्य में अर्थात् शरीर के साथ (इन्द्रिय दीखने में आते, गोचर हो जाते हैं) और मरण समय में फिर अव्यक्त अर्थात् अगोचर हो जाते हैं (सब की ऐसी ही धारणा है) तो हे भारत ! इसमें शोक क्यों करता है ॥२८॥ इस (आत्मा को) आश्चर्य से जानकर इस तरफ़ देखता है । कोई अचम्भे में आकर इसका वर्णन करता है, कोई इस अद्भुत वस्तु को सुनता है इस प्रकार जानकर देखकर तथा सुनकर भी

कश्चित् ॥ २९ ॥ देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत। तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हति। धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥ यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥ भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

इस आत्मा के असली भेद को कोई नहीं जानता ॥ २९ ॥ सब प्राणियों के शरीर में (वास करने वाला) देह का स्वामी (आत्मा) हमेशा अवध्य अर्थात् कभी भी नाश न होने वाला है, इसलिए हे भारत! (अर्जुन) सम्पूर्ण अर्थात् किसी भी व्यक्ति के लिए तुझको शोक करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥ अतिरिक्त इसके अपने धर्म की ओर देखा जाय तब भी (इस वक्त) पुरुषार्थ छोड़ना तुझको उचित नहीं है। क्योंकि धर्म अनुसार क्षत्री को युद्ध ही कल्याण कारक है। और कुछ नहीं है ॥३१॥ हे पार्थ (अर्जुन)! यह युद्ध स्वयं ही आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार ही है इस प्रकार का युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों ही को मिलता है ॥ ३२ ॥ इसलिए तू (अपने) धर्म के अनुसार यह युद्ध (संग्राम) न करेगा तो क्षात्र धर्म और यश को खोकर पाप ही इकट्ठा करेगा ॥ ३३ ॥ यही नहीं वल्कि (सम्पूर्ण) मनुष्य तेरी अक्षय दुष्कीर्ति गाते रहेंगे! और अपयश तो

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥ अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः। निंदन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥ सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न

संभावित (उत्तम) मनुष्य के लिए मृत्यु से भी बढ़कर है ॥३४॥ अब यह महारथी जानेंगे कि तू डरकर युद्ध से भाग गया, और जिनको (आज) तू बहुमान्य हो रहा है, वे सब तेरी योग्यता कम समझने लगेंगे ॥ ३५ ॥ इस प्रकार तेरी सामर्थ्य की निन्दा कर, तेरे शत्रु इस प्रकार की अनेक बातें (तेरे विषय में) कहेंगे जो न कहनी चाहिए। इससे विशेष दुःखकारक और है ही क्या ॥ ३६ ॥ यदि मर जायगा तो स्वर्ग प्राप्त होगा, और जीतेगा तो सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! युद्ध का निश्चय करके उठ ॥ ३७ ॥ सुख दुःख, हानि लाभ तथा जीत और हार को बराबर मानकर फिर लड़ाई में लग जा। ऐसा करने से तुझको (कोई भी) पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥ सांख्य अर्थात् संन्यास निष्ठा की तरह तुझे यह बुद्धि अर्थात ज्ञान या उपपत्ति बतलाई गई। अब जिस बुद्धि से युक्त होने पर (कर्मों के न छोड़ने पर भी) हे पार्थ! तू कर्म बन्धन छोड़ेगा, ऐसी यह (कर्म) योग की बुद्धि अर्थात् ज्ञान

विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनं-
ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥ यामिमां पुष्पितां
वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्य-
दस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥ कामात्मानः स्वर्गपरा
जन्मकर्मफलप्रदाम् । क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं
प्रति ॥ ४३ ॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेत-

(तुझे बतलाता हूँ) सुन ॥ ३९ ॥ इसमें अर्थात् कर्म योग मार्ग में (एक वार) आरम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता, आगे विघ्न भी नहीं होते। इस धर्म का किञ्चित् मात्र (आचरण) वड़े भय से संरक्षण करता है॥ ४० ॥ हे कुरु नन्दन! इस पथ में व्यवसाय बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्य का निश्चय करने वाली (इन्द्रिय रूपी) बुद्धि एक अर्थात् एकाग्र रखनी पड़ती है। जिनकी मेधा का (इस तरह) एक निश्चय नहीं होता, उन पुरुषों की बुद्धि अर्थात् वासनाएँ अनेक शाखाओं से युक्त अनन्त (असंख्य प्रकार की) होती हैं॥४१॥ हे पार्थ! (कर्म काण्डात्मक) वेदों के फल श्रुति युक्त) वाक्यों में भूले हुए और इस प्रकार कहने वाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त (अलावा) अन्य (दूसरा) कुछ नहीं है, बढ़ाकर कहा करते हैं॥ ४२ ॥ वहुत तरह के (यज्ञ-याग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्म रूप फल मिलता है और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है। स्वर्ग के पीछे पड़े हुए वे काम्य बुद्धि वाले (मनुष्य)॥ ४३ ॥ उल्लिखित व्याख्या की तरफ ही उनके मन आकर्षित हो जाने से भोग, सुख और ऐश्वर्य (प्रताप) में ही मग्न रहते हैं, इसलिए उन पुरुषों

साम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥ यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व-कर्मणि ॥ ४७ ॥ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा

की व्यवसायात्मक अर्थात् कार्य-अकार्य का निश्चय करने वाली बुद्धि (कभी भी) समाधिस्थ अर्थात् एक स्थान में स्थिर नहीं रह सकती ॥ ४४ ॥ हे अर्जुन ! (कर्म काण्डात्मक) वेद (इस तरह) *त्रैगुण्य की बातों से भरे हुए हैं इस कारण तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् तीनों गुणों से परे नित्य सत्वस्थ और सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों में लिप्त न हो इस प्रकार योग-क्षेम आदि स्वार्थों में न रहकर अपनी आत्मा में ही मग्न हो ॥४५॥ चारों तरफ पानी बढ जाने से कुए का जितना अर्थ वा प्रयोजन शेष रहता है (अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता) उतना ही प्रयोजन ज्ञान प्राप्त ब्राह्मण को सब (कर्मकाण्डात्मक) †वेद का रहता है (अर्थात् केवल काम्य कर्म रूपी वैदिक कर्म काण्ड की उसको कुछ आवश्यकता नहीं रहती) ॥ ४६ ॥ कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है, फल (मिलना व न मिलना) कभी भी तेरे आधीन नहीं (इस कारण मेरे कर्म का) अमुक फल मिले, यह कारण (मन में) धारण कर काम करने वाला न

---

* त्रैगुण्य=सत्व, रज, तम इन गुणों से मिश्रित सृष्टि को कहते हैं।

† विद् लाभे और विद् ज्ञाने से वेद बनता है।

धनञ्जय । सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग
उच्यते ॥४८॥ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय । बुद्धौ
शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥ बुद्धियुक्तो
जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते । तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः
कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं
त्यक्त्वा मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्य-
नामयम् ॥ ५१ ॥ यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यति-

बन, और कर्म करने का भी तू आग्रह न कर ॥ ४७ ॥ हे धनञ्जय ! आसक्ति त्याग कर तथा कर्म की सिद्धि हो वा असिद्धि दोनों को समान ही मानकर "योगस्थ" होकर कर्म कर, (कर्म क सिद्ध होने या निष्फल होने में रहने वाली) समता (मनो) वृत्ति को ही (कर्म) योग कहते हैं ॥ ४८ ॥ हे धनञ्जय ! मेधा (वुद्धि) क (साम्य) योग की अपेक्षा (वाह्य) कर्म बहुत ही छोटा है (इसलिए इस साम्य) वुद्धि की शरण में जा । फल को इच्छा अर्थात् फल मिलने की ओर दृष्टि रखकर कार्य करने वाले मनुष्य लोभो दीन नीची श्रेणी के हैं ॥ ४९ ॥ (जो साम्य वुद्धि) समान भाव से युक्त हो जाय, वह पुरुष इस लोक में पाप एवं पुण्य से पृथक् रहता है, इसलिए योग का ही आश्रय कर (पाप पुण्य से अलग रहकर) कर्म करने की वुद्धिमत्ता (कुशलता व युक्ति) को ही कर्मयोग कहते हैं ॥ ५० ॥ (समत्वं) वुद्धि से युक्त जो ज्ञानी पुरुष कर्म फल को त्यागते हैं, वे जन्म के बन्धन से अलग होकर (परमेश्वर के) दुःखों से रहित पद को प्राप्त करते हैं ॥ ५१ ॥ (हे अर्जुन) जब तेरी वुद्धि मोह के अंधकार से पार हो

तरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य
च ॥५२॥ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान् उवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्म-
न्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥ दुःखेष्वनु-
द्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थित-
धीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥ यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य

जायगी तब उन सब बातों से तू निर्मोह (विरक्त) हो जायगा जो सुनी हैं और सुनने को हैं ॥ ५२ ॥ अनेक तरह के वेद वाक्यों के चक्कर में प्राप्त हुई तेरी बुद्धि जब समाधि (योग) में स्थिर और निश्चल होगी तब यह साम्य बुद्धि योग तेरे को प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥ अर्जुन बोला—हे केशव! मुझे समझाओ कि समाधिस्थ और स्थित प्रज्ञ किसे कहते हैं? उसका बोलना, चलना, वैठना कैसा है ॥ ५४ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! जब कोई व्यक्ति अपने मन के सब काम अर्थात् वासनाओं को त्याग देता है तथा अपने आत्मा में ही संतुष्ट रहता है उसको स्थित प्रज्ञ कहते हैं ॥ ५५ ॥ जो दुःख में घबड़ाता नहीं सुख में प्रसन्न नहीं होता, प्रीति, भय और क्रोध जिसने त्याग दिये हैं उसको मुनिजन स्थित प्रज्ञ कहते हैं ॥ ५६ ॥ सब कर्मों

शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥ यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८॥ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥ यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः । वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा

से जिसका मन विरक्त हो गया है और सब शुभ-अशुभ का जिसको आनन्द व क्लेश नहीं उसकी बुद्धि स्थिर जानना॥५७॥ जिस तरह कछुआ अपने हाथ पैर सिकोड़ कर बैठ जाता है, उसी तरह कोई आदमी इन्द्रियों के (शब्द स्पर्श आदि) विषयों से अपनी इन्द्रियों को आकर्षण कर लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर समझना चाहिए ॥ ५८ ॥ निराहार (बिना किसी प्रकार का भोजन किये) मनुष्य के इन्द्रियों के ज्ञान छूट जाते हैं तब भी उनकी इच्छा नहीं जाती । एवं परब्रह्म का अनुभव होने से इन्द्रियों की इच्छा भी छूट जाती है अर्थात् विषय और उनकी इच्छा दोनों ही छूट जाते हैं ॥ ५९ ॥ अभिप्राय यह है कि (इन्द्रियों के दमन करने के वास्ते) उपाय करने वाले विद्वान् के मन को भी हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! ये प्रबल इन्द्रियाँ जबरदस्ती से जिधर चाहती हैं खींच लेती हैं ॥ ६० ॥ इसलिए इन सब इन्द्रियों का संयम न कर युक्त अर्थात् योग युक्त तथा मेरे में परायण हो रहना चाहिये। इसी तरह जिस (पुरुष) की इन्द्रियाँ अपने आधीन हो जांय

प्रतिष्ठिता ॥६१॥ ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृति-
भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥ राग-
द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेया-
त्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर-
स्योपजायते । प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभाव-

तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई ऐसा कहना ॥६१॥ विषयों (इन्द्रियों के ज्ञान) का ध्यान करने वाले मनुष्य का इन विषयों में संग बढ़ जाता है । पुनः सङ्ग से वासना पैदा होती है अर्थात वह (हमको काम) चाहिए तथा काम की तृप्ति होने में कोई बिघ्न होने से उस काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥ क्रोध से संमोह अर्थात् अज्ञान होता है अज्ञान से स्मृति भ्रम(याद का भूलना)स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश तथा बुद्धि नाश होने से मनुष्य का सर्वस्व नाश होता है ॥६३॥ लेकिन निजका आत्मा अर्थात् अन्तः करण जिसके वश में है वह मनुष्य प्रीति और द्वेष से अलग हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरते हुए भी चित्त से प्रसन्न रहता है ॥६४॥ चित्त प्रसन्न रहने से मनुष्य के सब दुःखों का नाश होता है कारण जिस मनुष्य का मन प्रसन्न है उसी की मेधा तत्क्षण स्थिर हो सकती है ॥६५॥ जो मनुष्य कही हुई विधि के अनुकूल योगयुक्त नहीं होता है। उसमें स्थिर बुद्धि तथा भावना एवं दृढ़ बुद्धि स्वरूप निष्ठा भी

शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रति-
ष्ठिता ॥ ५७ ॥ यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं
रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥ यततो ह्यपि
कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि
हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त
आसीत मत्परः । वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा

से जिसका मन विरक्त हो गया है और सब शुभ-अशुभ का जिसको आनन्द व क्लेश नहीं उसकी बुद्धि स्थिर जानना॥५७॥ जिस तरह कछुआ अपने हाथ पैर सिकोड़ कर बैठ जाता है, उसी तरह कोई आदमी इन्द्रियों के (शब्द स्पर्श आदि) विषयों से अपनी इन्द्रियों को आकर्षण कर लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर समझना चाहिए ॥ ५८ ॥ निराहार (बिना किसी प्रकार का भोजन किये) मनुष्य के इन्द्रियों के ज्ञान छूट जाते हैं तब भी उनकी इच्छा नहीं जाती । एवं परब्रह्म का अनुभव होने से इन्द्रियों की इच्छा भी छूट जाती है अर्थात् विषय और उनकी इच्छा दोनों ही छूट जाते हैं ॥ ५९ ॥ अभिप्राय यह है कि (इन्द्रियों के दमन करने के वास्ते) उपाय करने वाले विद्वान् के मन को भी हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! ये प्रबल इन्द्रियाँ जबरदस्ती से जिधर चाहती हैं खींच लेती हैं ॥ ६० ॥ इसलिए इन सब इन्द्रियों का संयम न कर युक्त अर्थात् योग युक्त तथा मेरे में परायण हो रहना चाहिये। इसी तरह जिस (पुरुष) की इन्द्रियाँ अपने आधीन हो जांय

प्रतिष्ठिता ॥६१॥ ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृति-
भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥ राग-
द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेया-
त्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिर-
स्योपजायते । प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५।
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभाव-

तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई ऐसा कहना ॥६१॥ विषयों (इन्द्रियों के ज्ञान) का ध्यान करने वाले मनुष्य का इन विषयों में संग बढ़ जाता है । पुनः सङ्ग से वासना पैदा होती है अर्थात वह (हमको काम) चाहिए तथा काम की तृप्ति होने में कोई विघ्न होने से उस काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥ क्रोध से संमोह अर्थात् अज्ञान होता है अज्ञान से स्मृति भ्रम(याद का भूलना)स्मृति भ्रंश से बुद्धि नाश तथा बुद्धि नाश होने से मनुष्य का सर्वस्व नाश होता है ॥६३॥ लेकिन निजका आत्मा अर्थात् अन्तः करण जिसके वश में है वह मनुष्य प्रीति और द्वेष से अलग हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरते हुए भी चित्त से प्रसन्न रहता है ॥६४॥ चित्त प्रसन्न रहने से मनुष्य के सब दुःखों का नाश होता है कारण जिस मनुष्य का मन प्रसन्न है उसी की मेधा तत्क्षण स्थिर हो सकती है ॥६५॥ जो मनुष्य कही हुई विधि के अनुकूल योगयुक्त नहीं होता है । उसमें स्थिर बुद्धि तथा भावना एवं दृढ़ बुद्धि स्वरूप निष्ठा भी

यतः शांतिरशांतस्य कुतःसुखम् ॥६६॥ इंद्रियाणां हि
चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाव-
मिवांभसि ॥६७॥ तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि
सर्वशः । इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता
॥६८॥ या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंतियद्वत् । तद्व-

नहीं रहती है जिसको भावना नहीं उसको शान्ति कहाँ जिसको शान्ति नहीं। उस पुरुष को सुख भी कहीं नहीं मिलेगा ॥६६॥ विषयों में बर्तने वाली इन्द्रियों के साथ-साथ अर्थात् पीछे-पीछे जो मन जाना चाहता है, वही (मन) पुरुष की बुद्धि को उसी तरह डांवाडोल किया करता हैं जिस प्रकार पानी में नाव को हवा आकर्षण करती है ॥६७॥ इस कारण हे महा-बाहु (लम्बी भुजा वाले) अर्जुन ! जिसकी सब तरह से इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से हटा हुई अर्थात् अपने वश में की हुई हैं उसकी बुद्धि स्थिर (निश्चल) हुई (ऐसा कहना) ॥६८॥ जो सब भूत (प्राणी मात्र) की रात्रि है उसमें स्थित प्रज्ञ जागा करता है तथा जिसमें सब प्राणी मात्र जगते रहते हैं तब इस ज्ञानी पुरुष को रात्रि मालूम होती है ॥६९॥ (अज्ञानी पुरुष रात्रि में सोते हैं, ज्ञानी जागते हैं।) जिस प्रकार समुद्र में सर्वदा जल भरे रहते हुए चारों ओर से जल आने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं टूटती अर्थात् बाढ़ नहीं आती उसी प्रकार सम्पूर्ण कामनाओं (विषयों) के मिलने

त्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥ विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥७१॥ एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वास्या-मंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे-अर्जुनविषादयोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

पर भी जिस मनुष्य की शान्ति भंग नहीं होती उसको ही सच्ची शान्ति प्राप्त होती है कामनाओं में लिप्त रहने से नहीं मिलती ॥७०॥ जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं से अलग होकर तथा निज अहंकार और लालसा को त्याग कर सांसारिक व्यवहार करता है उसको ही शान्ति प्राप्त होती है ॥७१॥ हे पार्थ ! यही ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म भाव की स्थिति है इसको मिलने पर मनुष्य मोह में नहीं फँसता है और मरने पर ब्रह्म निर्वाण पद को प्राप्त होता है अर्थात् तद्रूप मोक्ष प्राप्त करता है ॥७२॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत दूसरे अध्याय की भाषा टीका समाप्त हुई ।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥ व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥ न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषो ऽश्नुते। न च सन्यसनादेव

अर्जुन बोला—हे जनार्दन! यदि आपके विचार से कर्म की अपेक्षा बुद्धि (साम्य) ही उत्तम है, तब आप मुझ को इस (युद्ध के) घोर (हिंसात्मक) कर्म में क्यों लगाते हैं।? ॥१॥ मिले हुए भाषण से आप मेरी बुद्धि को मोहित करते हो ऐसा मुझ को मालूम होता है। इस कारण व्यामिश्र (संदिग्ध) वाक्यों में से निश्चय रूप एक ही कहिये जिससे मेरा कल्याण हो ॥२॥ श्री भगवान् बोले—हे अनघ (निष्पाप) अर्जुन! पहले (दूसरे अध्याय में) मैंने तरह-तरह की निष्ठा (स्थिति) कही सांख्यों (तत्व ज्ञानियों) की ज्ञान योग (आत्म ज्ञान) के सहारे युक्त और (समत्व) योगियों की कर्म योग के अवलम्ब से ॥३॥ कर्म का आरंभ न करने ही से पुरुष को नैष्कर्म्य (निष्कर्मी) प्राप्ति नहीं होती है तथा

सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु
तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः
॥५॥ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥ यस्त्विन्-
द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमस-
क्तः स विशिष्यते ॥७॥ नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो
ह्यकर्मणः । शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मकः ॥८॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः । तदर्थं कर्म

कर्मों का संन्यास (त्याग) कर देने ही से सिद्धि नहीं मिलती ॥४॥ क्योंकि हर एक मनुष्य कुछ कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रहता है प्रकृति के गुण परतन्त्र हर मनुष्य को सदा कुछ न कुछ करने में लगाते ही रहते हैं ॥५॥ जो मूढ़ (मूर्ख) हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों को रोककर मन में इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है उसको मिथ्याचारी अर्थात् पाखंडी कहते हैं ॥६॥ परन्तु हे अर्जुन! जो मन से इन्द्रियों का अवरोध करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से ही कर्मयोग का प्रारम्भ करता है वही विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है ॥७॥ नियत (अपने धर्म के अनुकूल) अर्थात् नियमित कर्म जो तू कर सकता है उन ही को कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही अधिक अच्छा है। अलावा इसके यह जान ले यदि तू कर्म न करेगा तो तेरा शरीर भी निर्वाह न कर सकेगा ॥८॥ यज्ञ के लिये जो कर्म किए जाते हैं अलावा उनके यह लोक और कर्मों से बंधा हुआ है इस कारण यज्ञ के लिए किए जाने वाले कर्म तू उनके फल की आशा को

कौन्तय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥ सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥ देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतुवः । परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥ इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनः संतोमुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः । भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥१३॥ अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥१४॥ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् । तस्मा-

---

छोड़कर किए जा ॥९॥ ब्रह्माजी ने सृष्टि के प्रारम्भ काल में प्रजा को उत्पन्न करके साथ ही साथ उनसे कहा इस यज्ञ से ही तुम्हारी वृद्धि होगी और यज्ञ ही तुम्हारी कामधेनु अर्थात् तुम्हारी इच्छित कामनाओं का देने वाला होवे ॥१०॥ तुम यज्ञ करके देवताओं को सन्तुष्ट करते रहना तथा देवता तुम को प्रसन्न करते रहेंगे इसलिए आपस में एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए परमश्रेय प्राप्त करो ॥११॥ यज्ञ से प्रसन्न होकर देवता लोग तुम को इच्छित (जो तुम चाहते हो) भोग देंगे उनका दिया हुआ भोग वापिस न देकर जो भोगता है वह चोर है ॥१२॥ यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को भोजन करने वाले सन्त (सज्जन) सब पापों से छूट जाते हैं और यज्ञ न करते हुए जो केवल अपनी ही आत्मा के पोषण के लिए अन्न बनाते हैं वे पापी पाप भोजन करते हैं ॥ १३ ॥ सब जीवों की उत्पत्ति केवल अन्न ही से होती है अन्न पर्जन्य(मेघ)से पैदा होता है पर्जन्य

रसर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञेप्रतिष्ठम् ॥१५॥ एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥१६॥ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्व भूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ॥१८॥ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म पदमाप्नोतिपुरूषः

यज्ञ से तथा यज्ञ की उत्पत्ति कर्म ही से होती है ॥ १४ ॥ कर्म ही से पैदाइश ब्रह्म (प्रकृति) से तथा ब्रह्म अक्षर (जिसका नाश न हो) अर्थात् परमेश्वर से इस कारण सर्वगत (सब में स्थिति) ब्रह्म ही यज्ञ में विद्यमान रहता है ॥ १५ ॥ हे पार्थ ! अर्जुन इस तरह (संसार को धारण करने के लिए) विधान करे हुए कर्म वा यज्ञ के चक्र को आगे नहीं प्रवर्तित करता उसकी आयु पापयुक्त है तथा उस इन्द्रिय मनुष्य का(जो देवताओं को अर्पण न करके स्वयं भोजन करता है) जीवन वृथा है ॥ १६ ॥ और जो मनुष्य सिर्फ अपनी आत्मा में ही रत, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है उसको अपना किञ्चित् कार्य बाकी नहीं रहता ॥ १७ ॥ आगे इस संसार में कोई कार्य करने वा न करने से उस प्राणी का कोई लाभ नहीं होता तथा सब प्राणियों में उसका निजका कार्य कुछ भी नहीं रहता ॥ १८ ॥ इस कारण ज्ञानी मनुष्य कोई भी स्वार्थ की इच्छा नहीं रखता तब तू स्वयं फल की कांक्षा को त्याग कर अपना मुख्य कर्म सर्वदा करा कर इसलिये निष्कार्य कर्म करने वाले पुरुष को ही परम गति अर्थात् मोक्ष

॥ १९ ॥ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥ यद्यदाचरति
श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु-
वर्तते ॥२१॥ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥ यदि ह्यहं न
वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः
पार्थ सर्वशः ॥२३॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म
चेदहम् । संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः

प्राप्त होती है ॥ १९ ॥ विदेह (जनक) तथा भगीरथ आदि क्षत्रियों ने भी श्रौत स्मार्त के कर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है इसी तरह लोक-संग्रह नाम पामरजन जो हैं उनका संग्रह किया उन्मार्ग से निवारण करने वाला सत्कर्म मार्ग उस पर ही दृष्टि रखकर कर्म करना ठीक है ॥ २० ॥ श्रेष्ठ, आत्म ज्ञानी अथवा कर्म योगी (वेद शास्त्रों को पढ़ने पढ़ाने तथा उसी के अनुसार कर्म करने वाला) जो कुछ कार्य करता हैं उसी को साधारण मनुष्य भी करते रहते हैं तथा जिस वह प्रमाण मानता है और लोग भी उसी को अंगीकार करते हैं ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! तीनों लोक में मेरा कुछ भी कार्य बाकी नहीं है और कोई न मिलने वाली वस्तु मिलने बिना रह गई तब भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥ २२ ॥ यदि जो मैं आलस्य को त्याग कर कर्मों को न बरतूँगा तो हे अर्जुन ! सब मनुष्य मेरे ही मार्ग का अवलम्बन करेंगे ॥ २३ ॥ यदि मैं कर्म न करूँ तो सम्पूर्ण लोक उत्सन्न एवं नष्ट हो जायंगे मैं संकर वर्ण का कर्ता हो जाऊँगा तथा इन सब का मेरे ही हाथ से नाश हो

॥२४॥ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥ न बुद्धि-
भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् । जोपयेत्सर्वकर्माणि विद्वा-
न्युक्तः समाचरन् ॥२६॥ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि
सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु
वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥ प्रकृतेर्गुणसंमूढाः
सज्जंते गुणकर्मसु । तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न

जायगा ॥ २४ ॥ हे अर्जुन ! अज्ञानी मनुष्य जिस तरह अपने सांसारिक कर्म में बर्ताव करते हैं उसी तरह ज्ञानी पुरुष को आसक्ति त्याग कर कार्य करना चाहिए ॥ २५ ॥ कर्म में लगे हुए अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि में ज्ञानी मनुष्य कोई प्रकार का भेद भाव न करे स्वयं आप युक्त एवं साम्य भाव हो कर्म करता रहे तथा सब से करवाता रहे ॥ २६ ॥ स्वभाव सत्त्व, रज, तमोगुण इन ही के द्वारा सब तरह के कर्म होते रहते हैं परन्तु अहंकार में मग्न होकर (अविवेकी) जानता है कि मैं ही करता हूँ ॥ २७ ॥ इस कारण हे बड़ी-बड़ी भुजा वाले अर्जुन ! गुण तथा कर्म दोनों ही मुझ से पृथक् हैं इस भेद को जानने वाला ज्ञानी पुरुष जान करके भी इनमें आसक्त (लवलीन) नहीं होता । वह यह जानता है कि गुणों का यह खेल (तमाशा), आपस में हो रहा है ॥ २८ ॥ अज्ञानी मनुष्य प्रकृति के गुणों के भेद को नहीं जानते इससे उनमें ही लवलीन न रहते हैं उन अल्पज्ञ मंद बुद्धि वाले पुरुषों को

विचालयेत् ॥२६॥ मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्या-
त्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः
॥३०॥ ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥ ये
त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् । सर्वज्ञानविमूढां-
स्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥ सदृशं चेष्टते स्वस्याः
प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करि-
ष्यति ॥३३॥ इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥३४॥ श्रेयान्स्व-

सर्वज्ञ (ज्ञान वाला) अनुचित रास्ते पर न ले जावे ॥ २६ ॥
इस कारण हे अर्जुन ! तू मेरे में अध्यात्म बुद्धि (आत्म ज्ञान)
द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को अर्पण करके ममता (मोह) एवं फल
की आशा तथा शोक, संताप को त्याग कर युद्ध कर ॥ ३० ॥
जो मनुष्य श्रद्धा तथा दोष रहित दृष्टि से मेरे मतावलम्बी होकर
नित्य व्यवहार करते हैं वे कर्म के बन्धनों से छूट जाते हैं
॥ ३१ ॥ और जो दोष दृष्टि से अनेक प्रकार की तर्कना कर
मेरे मतानुयायी नहीं रहते उन सर्व ज्ञान विमूढ अर्थात् बेवक़ूफ़
अज्ञानियों को नष्ट हुआ जानो ॥ ३२ ॥ ज्ञानी मनुष्य भी
अपनी प्रकृति (स्वभाव) के मुताबिक कार्य करता रहता है
तथा सब प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल चलते हैं।
तब निग्रह (हठ वा जबरदस्ती) क्या हो सकेगा ? ॥ ३३ ॥
इन्द्रियाँ और उनके धर्म (शब्द स्पर्शादि प्रीति और द्वेष)
व्यवस्थित अर्थात् स्वभाव से निश्चित हैं इस कारण प्रीति
और द्वेष के वशीभूत न होना चाहिए ये पुरुष के शत्रु हैं ॥३४॥

धर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजो गुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥ धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च । यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा

दूसरों के धर्म का चाल चलन उत्तम और सहल भी मालूम हो तब भी उस के मुकाबिले में अपना धर्म जो चारों वर्ण के लिये कल्याण दायक है चाहे वह दोषयुक्त क्यों न हो और अपने धर्म के अनुकूल कार्य करने में मृत्यु (मौत) ही क्यों न हो जावे तब भी कल्याण देने वाला है और दूसरा धर्म भयंकर है ॥३५॥ अर्जुन बोला—हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण) इसके बाद यह बताइये कि अपनी इच्छा न होते हुए भी मनुष्य किस के उपदेश से दुष्कर्म (पाप) करता है जैसे कोई हठ (जबर्दस्ती) से प्रेरणा करता है ॥३६॥ श्रीभगवान ने कहा इस में तू यह समझ कि रजोगुण से उत्पन्न यह बहुत ही भोजन करने वाला तथा बड़ा पापी काम और क्रोध ही शत्रु है ॥३७॥ जिस तरह से धुएँ से अग्नि, रज से शीशा (आइना) तथा झिल्ली (जेर) से गर्भ आच्छादित रहता है तद्वत् काम से यह आत्मा ढका रहता है

तेनेदमावृतम् ॥३८॥ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य-
वैरिणा । कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते । एतैर्विमोहय-
त्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥ तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ
नियम्य भरतर्षभ । पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाश-
नम् ॥४१॥ इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥ एवं

॥३८॥ हे कौन्तेय (कुन्ती के पुत्र) अर्जुन! ज्ञाता (आत्मज्ञानी) का निरन्तर यह *काम वैरी स्वरूप, किसी काल में भी शान्त न होने वाला अग्नि ही है इसने ज्ञान (आत्मज्ञान) को आच्छादित कर रखा है ॥३९॥ इन्द्रियाँ, मन, तथा बुद्धि को यह इसके निवास का स्थान अर्थात् गढ़ जानना इन सब के द्वारा आत्म-ज्ञान को ढक कर जीवात्मा को मोहित कर मनुष्य को नाच नचवाया करता है ॥४०॥ इस कारण हे अर्जुन ! इन्द्रियों का दमन करके आत्मज्ञान और (लौकिक) विज्ञान का नाश करने वाले महा पापी काम को मार डाल ॥ .१॥(स्थूलपदार्थों से)इन्द्रियाँ परे(दूर) हैं इन्द्रियों से दूर मन और मन से भी परे (व्यवसायात्मिक) बुद्धि तथा जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है ॥४२॥ हे महा-बाहु अर्जुन ! तू इस तरह बुद्धि से दूर उस आत्मा को पहचान

---

* जैसा मनु ने २।९४ में लिखा है। काम दूध, घी आदि के भोजन से तृप्त नहीं होता जैसे ईंधन गेरने से अग्नि प्रचंड होता है उसी प्रकार यह भी बढ़ता है।

बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना । जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

कर अपने असली आत्मा में बोध करके दुर्जय काम रूप शत्रु को मार गेर ॥४३॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता तीसरे अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् । विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥ एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः । स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप

श्रीभगवान् बोले—अव्यय जो कभी एवं तीनों काल में भी नाश न हो तथा नित्य यह कर्मयोग मैंने विवस्वान् सूर्य से कहा और सूर्य ने अपने पुत्र मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु को बताया ॥ १ ॥ इस तरह परम्परा द्वारा प्राप्त इस समत्व योग को राजर्षियों ने मालूम किया किन्तु हे शत्रुतापन (शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! बहुत काल के बाद वही योग इस

॥२॥ स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्वि-
जानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥ अजो-
ऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं
स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥ यदा यदा हि

मनुष्य लोक से नाशमान होगया ॥ २ ॥ इसको अत्युत्तम योग जान कर इस पुरातन (कर्मयोग) तुझको आज मैंने इस कारण बता दिया तू मेरा सखा एवं भक्त है ॥ ३ ॥ अर्जुन बोला—आपका जन्म तो अब ही हुआ है और विवस्वान् (सूर्य) बहुत पहले हुआ है इस दशा में मैं किस प्रकार समझ सकता हूँ कि पूर्व में आप ही ने यह योग कहा था ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे अनगिन्त जन्म बीत चुके हैं उन सब को मैं जानता हूँ तू नहीं जानता ॥ ५ ॥ मैं प्राणी मात्र का स्वामी हूँ तथा अजन्मा अर्थात् (जन्म रहित) निर्विकार हूँ तथापि मेरे स्वरूप में किसी काल में भी विकार नहीं होता फिर भी मैं अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर निज माया से जन्म लेता हूँ ॥ ६ ॥ हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि हो जाती है और अधर्म बढ़ जाता है तब मैं

धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदा-
ऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥ परित्राणाय साधूनां विना-
शाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे
युगे ॥ ८ ॥ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ६ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञान-
तपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥ ये यथा मां प्रप-
द्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः
पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥ कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह
देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अपने आप ही जन्म लेता हूँ ॥७॥ साधुओं की अच्छे प्रकार से रक्षा तथा दुष्टों का नाश करने के वास्ते युग युग में धर्म की स्थापना के लिए ही मैं जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! इस तरह जो मेरे दिव्य (सुन्दर) जन्म तथा कर्म को जानता है वह पुरुष शरीर छोड़ने के पीछे संसार में जन्म न लेकर मेरे में लय हो जाता है ॥ ६ ॥ बहुत से लोग प्रीति भय तथा क्रोध से रहित मुझमें परायण व तन्मय हो ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप में लय हो गये हैं ॥ १० ॥ जो मुझको जिस तरह से भजते (याद करते) हैं मैं भी उनको उसी प्रकार बर्तता हूँ हे पार्थ ! किसी भी तरफ़ से क्यों न हो मनुष्य मेरे ही में लय होते हैं ॥ ११ ॥ संसार में कर्म फल की इच्छा से देवताओं की पूजा इस कारण से करते रहते हैं कि कर्म फल मनुष्य लोक में जल्दी मिल जाते हैं ॥ १२ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय,

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥ न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥ १४ ॥ एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥ कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स

वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का विभाग मैंने गुण और कर्म से ही किया इसको तू मन में जान तथा मैं ही उसका करने वाला और न करने वाला अव्यय हूँ ॥ १३ ॥ मुझको कर्म वाधा नहीं देते इसलिए कि कर्म के फल की मुझे चाहना नहीं जो पुरुष मुझको इस तरह जानता है उसको कर्म बाधा नहीं देते ॥ १४ ॥ इसको जानते हुए प्राचीन समय के मुमुक्षु (मोक्षाभिलाषी) पुरुषों ने भी कर्म किये इस कारण उन पूर्वजों के किये हुए अत्यन्त प्राचीन कर्म तू भी कर ॥ १५ ॥ कर्म क्या और अकर्म क्या है? इसको जानने में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है इस कारण मैं तुझको वह कर्म समझाता हूँ जिसको जान कर तू पाप से छूट जायगा ॥ १६ ॥ कर्म की गति बड़ी गंभीर है इसलिए तुझको यह जानना चाहिए कर्म क्या है और समझले कि अकर्म (कर्म का उलटा) क्या है ॥ १७ ॥ कर्म में अकर्म (नहीं करने वाला

युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥ यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥ त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥ निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥२१॥ यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्धयते ॥२२॥ गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।

कर्म) तथा अकर्म में कर्म (करने वाला कर्म) जिसको दीखता है वह मनुष्यों में ज्ञानी तथा योग युक्त एवं समस्त कर्म का करने वाला है ॥ १८ ॥ ज्ञानवान पुरुष उसको ही पंडित कहते हैं जिसके सभी समारम्भ (कर्म) संकल्प की कामना से रहित हों तथा जिस प्राणी के कर्म ज्ञान की अग्नि में भस्म हो जाते हैं ॥ १९ ॥ जो कर्म के फल को त्याग कर हमेशा तृप्त (प्रसन्न) निराश्रय स्वावलम्बी (अपने से पृथक् किसी पर निर्भर न रहने वाला) पुरुष कर्म करते रहने पर भी कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥ किसी काम में फल की आशा न रखने वाला चित्त और इन्द्रियों को वश में करने वाला सब प्रकार के पदार्थों का संग्रह जिसने त्याग दिया है केवल शरीर या कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करते समय किल्विष(पाप)का भागी नहीं होता ॥२१॥ यदृच्छा (अनायास) से जो कुछ मिल जाय उसमें ही सन्तुष्ट (खुश, रंज, प्रतिष्ठा, अप्रतिष्ठा, बुराई, भलाई, सुख, दुःख आदि) द्वन्द्वों से अलग ईर्षा, द्वेष आदि से रहित कर्म की सिद्धि तथा असिद्धि को समान जानने वाला मनुष्य कर्म करते

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥ ब्रह्मार्पणं
ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं
ब्रह्मकर्म समाधिना ॥२४॥ दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः
पर्युपासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति । शब्दादीन्वि-
षयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राण
कर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते
॥२७॥द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे। स्वाध्याय-

हुए भी पाप पुण्य के बन्धन में नहीं पड़ता ॥२२॥ सब जगह एक आत्म ज्ञान में ही स्थिर चित्त वाले इच्छा रहित मुक्त मनुष्य के यज्ञ ही के वास्ते कर्म करने वाले के सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं ॥२३॥ अर्पण अर्थात् हवन करने की विधि ब्रह्म है हवि (जिस पदार्थ का हवन करते हैं) द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्माग्नि में ब्रह्म के द्वारा हवन किया जाता है इस तरह जो सम्पूर्ण कर्म को ब्रह्ममय जानता है उसको ब्रह्म मिलता है ॥२४॥ कोई दूसरे कर्मयोगी(ब्रह्मबुद्धि से पृथक् कर्मों में लगे हुए) किसी देवोद्देश से यज्ञ करते हैं तथा कोई ब्रह्माग्नि में ही यज्ञ की आहुति देते हैं॥२५॥ कितने पुरुष कान आदि इन्द्रियों को संयम-स्वरूप अग्नि में हवन करते हैं तथा दूसरे शब्द आदि विषयों को इन्द्रिय स्वरूप अग्नि में शब्दादि विषयों का हवन करते हैं ॥२६॥ और कुछ कर्म योगी इन्द्रियों और प्राणों के सम्पूर्ण व्यापारों को ज्ञान से दीप्त आत्म संयम स्वरूप अन्तःकरण की योग अग्नि में हवन करते हैं ॥२७॥ इस तरह कोई द्रव्य परोपकार के लिए सात्विकदान कई तपयज्ञ सात्विकतप जो

ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥ अपाने जुह्वति प्राणंप्राणोऽपानं तथाऽपरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ॥२९॥ अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥३०॥ यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥ एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं

आगे कहेंगे कोई योग यज्ञ पातञ्जल का कहा हुआ, कोई स्वाध्याय यज्ञ (पढ़ने-पढ़ाने) और कई ज्ञान यज्ञ (आत्मा) का विचार करने के कुशल दृढ़व्रत में लगे रहते हैं ॥२८॥ कोई कर्म योगी प्राणायाम में लीन होकर प्राण (वायु को भीतर खींचना) अपान (वायु को बाहर निकालना) की गति को प्राणायाम के द्वारा अपान को प्राण में तथा प्राण को अपान में हवन करते हैं ॥२९॥ कई पुरुष आहार को नियमित रूप अर्थात् नित्य प्रति समान रूप से भोजन करने वाले प्राण वायु में प्राणों का (अजपा गायत्री का ध्यान करते हुए) हवन करते है ॥३०॥ ये सभी यज्ञ के जानकार हैं इनके अन्तःकरण का मल यज्ञ से ही नाश हो जाता है ॥३०॥ यज्ञ के अवशिष्ट भाग (बचा हुआ) अमृत को भोजन करने वाला (स्त्री पुरुष) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है। लेकिन हे कुरुश्रेष्ठ! अर्थात् (कौरवों में उत्तम) अर्जुन! जो यज्ञ से अनभिज्ञ मनुष्य हैं उनका यह लोक नहीं तो परलोक कहाँ से प्राप्त होगा ॥३१॥ इस तरह अनेक प्रकार के यज्ञ करने की विधि पंडितों के द्वारा कही हुई वेंदादि शास्त्रों में विस्तार से लिखी है उन सब को कर्म से ही मालूम कर ऐसा करने से तू आवागमन से

ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परंतप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥ यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव । येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः । सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि

छूट जावेगा अर्थात् तेरी मोक्ष हो जावेगी ॥३२॥ हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है क्योंकि हे पार्थ! सब तरह के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही लय हो जाते हैं ॥३३॥ अहंकार को त्याग कर नम्रीभूत होकर सीधेपन से सेवा के द्वारा तू उन तत्व ज्ञानियों से प्रश्न करके ज्ञान के उपदेश को सुन ॥३४॥ जिस ज्ञान को जानने पर हे पांडव! तुझ को इस प्रकार का मोह नहीं होगा तथा उस ही ज्ञान से प्राणियों को तू अपने में और मुझमें देखेगा ॥३५॥ यदि तू सम्पूर्ण पाप करने वालों से भी अधिक पाप करने वाला है तब भी ज्ञान रूपी नाव के सहारे से सब पापों से पार उतर जावेगा ॥३६॥ हे अर्जुन! जिस तरह बढ़ी हुई अग्नि लकड़ियों को भस्म कर देती है उसी तरह यह (एकत्व भाव की) ज्ञान अग्नि सब शुभ अशुभ कर्मों को जला देती है ॥३७॥ इस संसार में ज्ञान के बराबर पवित्र कुछ नहीं है समयानुकूल उस (ज्ञान) समत्व योग में पूर्णता

विंदति ॥३८॥ श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥ योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय॥४१॥तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः । छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

प्राप्त पुरुष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है ॥३८॥ श्रद्धावान् इन्द्रियों का संयम करके उसी को अनुकूलता से रहे तो उसको भी यह ज्ञान मिल जायगा तथा ज्ञान लाभ होने से उसको परम शान्ति लाभ होगी ॥३९॥ लेकिन जिसको न तो ज्ञान है न श्रद्धा ही है वह संशय युक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है संशय युक्त मनुष्य को यह लोक परलोक एवं सुख भी नहीं प्राप्त होता ॥४०॥ हे धनंजय ! आत्मज्ञानी पुरुष को उसके कर्म नहीं बांध सकते हैं जिसने (कर्म) योग के आधार से अपने सब कर्म बंधन छोड़ दिये हैं तथा ज्ञान से जिसके सम्पूर्ण सन्देह दूर हो गये हैं इस कारण हे भारत ! अज्ञान से पैदा हुए अन्तःकरण में स्थित इस संशय को आत्मज्ञान रूप तलवार से काटकर समत्व योग (कर्म योग) में प्रविष्ट हो कर (लड़ाई के लिए) खड़ा हो ॥४२॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता चौथे अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि । यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥ ज्ञेयः स नित्य-संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति । निर्द्वन्द्वो हि महा-बाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥३॥ सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते

अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! कभी तो संन्यास (कर्मों के त्याग के लिये) की तथा कभी कर्म योग (कर्म करते रहने) को ही कल्याणकारी बतलाते हो इस कारण यथार्थ में जो दोनों में उत्तम हो वही एक रास्ता मुझ को निश्चय रूप से बतलाइये ॥१॥ श्री भगवान् बोले—संन्यास तथा कर्म योग ये दोनों ही मार्ग निःश्रेयस्कर अर्थात् मोक्ष दिलाने वाले हैं एवं दोनों ही मोक्ष की समता से बराबर हैं इस कारण कर्मसंन्यास के मुकाविले में कर्म योग ही विशेष श्रेष्ठ है ॥२॥ जो न तो किसी से द्वेष (वैर) करता है और किसी से कांक्षा (अभिलाषा) भी नहीं करता है उस मनुष्य को तो कर्म करते रहने पर भी नित्य संन्यासी जानना चाहिए क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन ! द्वन्द्व (सुख, दुःख आदि) से अलहदा रहकर वह अनायास ही कर्म के सब बंधनों को त्याग देता है ॥३॥ अज्ञानी मनुष्य

फलम् ॥४॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः । योगयुक्तो
मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥ योगयुक्तो विशु-
द्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः । सर्वभूतात्मभूतात्मा
कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥ नैव किंचित्करोमीति युक्तो
मन्येत तत्ववित् । पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छ-

कहा करते हैं कि सांख्य (कर्म संन्यास) तथा योग (कर्मयोग) यह दोनों पृथक्-पृथक् हैं लेकिन जो ज्ञानी अर्थात् पंडित हैं वह इस प्रकार नहीं कहते हैं इन दोनों में से किसी एक रास्ते का भी अवलम्बन करने से दोनों का फल मिलता है ॥४॥ जिस मोक्ष जगह पर सांख्य वाले मनुष्य प्राप्त होते हैं उस ही स्थान पर कर्म योगी भी जाते हैं इस तरह दोनों रास्ते सांख्य तथा योग एक ही हैं जिसको ऐसा ज्ञान हो गया उसने ही ठीक तत्व को पहचान लिया ।५॥ हे महाबाहु ! योगकर्म के बिना जो संन्यास प्राप्त करते हैं सो बहुत ही कठिन है कर्म-योग के साथ युक्त होता हुआ मुनि तत्काल ब्रह्म रूप को प्राप्त हो ज़ाता है ॥६॥ जो कर्म योग में लय हो गया वा शुद्ध अन्तः-करण वाला और अपने मन तथा इन्द्रियों को जीतने वाला और सम्पूर्ण जीव धारियों का आत्मा ही जिसका आत्मा है वह सब कर्मों को करता हुआ भी उनके पुण्य पापों से पृथक् रहता है ॥७॥ ऊपर कहे हुए योग में बंधे हुए तत्व वेत्ता मनुष्य को जानना उचित है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, देखना, सुनना, छूना, सूंघना, भोजन करना, चलना, सोना, श्वास लेना

न्स्वपञ्छ्वसन्, प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । इन्द्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥ ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगत्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥ कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥ युक्तःकर्मफलंत्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥ सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥ न कर्तृत्वं न

और छोड़ने में ॥८॥ बोलना, त्यागना, लेना, आँख के पलक खोलने तथा बन्द करने में ऐसा कार्य करे कि इन्द्रियाँ ही अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हो रही हैं ॥९॥ ब्रह्म में युक्त होकर कर्म फल की इच्छा को त्याग कर जो कर्म करता है उसको पाप उसी प्रकार नहीं लगता जैसे कमल के पत्ते को जल नहीं छूता ॥१०॥ इस कारण कर्म योगी (अहंकार बुद्धि को त्याग कर कि मैं अमुक कर्म करता हूँ) शरीर से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से भी फल की इच्छा त्याग कर केवल आत्म शुद्धि के ही वास्ते कर्म करता रहता है ॥११॥ जो युक्त अथवा योग योगी है वह कर्म फल को त्यागकर ही अन्त में पूर्ण शान्ति ग्रहण करता है तथा जो योग से पृथक् है वह कर्म से अथात् वासना से फल के विषय में मिलकर पाप पुण्य से बँध जाता है ॥१२॥ सब कर्मों का मन से ही त्याग कर तथा इन्द्रियों को वश में करके देहधारी मनुष्य नवद्वारों के इस शरीर रूपी नगर में न तो कुछ कार्य करता है न कराता है आनन्द से पड़ा

कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्व-
भावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव
सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः
॥१५॥ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषा-
मादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥ तद्बुद्धयस्त-
दात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः । गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञान-
निर्धूतकल्मषाः ॥१७॥ विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि
हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः
॥१८॥ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

रहता है ॥१३॥ प्रभु अर्थात् ईश्वर वा आत्मा मनुष्यों के कर्तापन को कर्म और उनके फल के संयोग की भी रचना नहीं करता स्वभाव एवं प्रकृति ही सब कुछ करती रहती है ॥१४॥ विभु जो परमात्मा, आत्मा तथा सर्वव्यापी किसी का पाप एवं सुकृत (पुण्य) नहीं ग्रहण करता ज्ञान के ऊपर अज्ञान ढका रहने से जीव मोह में प्राप्त हो जाते हैं ॥१५॥ किन्तु आत्म ज्ञान द्वारा जिन्हों का अज्ञान नाश हो गया है उन्हीं के वास्ते उनका ही आत्म ज्ञान परमतत्व परमार्थ तत्व को सूर्य की तरह प्रकाशमान कर देता है ॥१६॥ और परमार्थ तत्व अर्थात् अपने आपकी वास्तविकता में ही जिनकी दृढ़ स्थिति हो जाती है वहाँ ही उनका अन्तःकरण लीन होकर उसी में तन्निष्ठ (तद्रूप) परायण हो जाते हैं और उनके पाप ज्ञान से शुद्ध होकर फिर जन्म नहीं लेते हैं ॥१७॥ विद्या विनय (नम्रता) से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी एवं कुत्ता और चाण्डाल इनमें आत्म ज्ञानी विद्वान् मनुष्य समान भाव से देखते हैं

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः। न प्रहृ-
ष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिर-
संमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥ बाह्यस्पर्शेष्वसक्ता-
त्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुख-
मक्षयमश्नुते ॥२१॥ ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय
एव ते। आद्यन्तवन्तः कौंतेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधो-

॥१८॥ इस तरह जिनका मन साम्यावस्था (एकत्व भाव में लग जाता है वे यहाँ ही इस मृत्यु लोक (संसार) को मरण की राय न देखते हुए इसी शरीर से विजय कर लेते हैं क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है इस कारण साम्य बुद्धि वाले पुरुष यहाँ ही हो जाते हैं ॥१९॥ जो पुरुष अपनी इच्छित वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होते तथा अप्रिय (जो सुन्दर न हो) को मिलने पर नाराज न हो उस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर है और वह संसारी मोह में नहीं डूबता वही ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म में लय हुआ ऐसा जानो ॥२०॥ वाह्य (बाहर) के पदार्थों (इन्द्रियों द्वारा होने वाले व्यापार) के मिलने वाले विषयादिकों में जिनका मन नहीं लगता उसको ही आत्म सुख प्राप्त होता है और वह ब्रह्म में प्रवेश होता हुआ पुरुष अक्षय सुख पाता है ॥२१॥ इन्द्रियों के संयोग से पैदा होने वाले जो भोग हैं उनका आदि अन्त है इसलिए वे सब दुःख के स्वरूप हैं हे कौन्तेय! उन सुखों में पंडित लोग प्रीति नहीं करते हैं ॥२२॥ जो इसी जन्म में शरीर छूटने के पूर्व ही काम, क्रोध से पैदा होने वाले वेग (मन की इच्छानुसार कार्य) को जो इन्द्रिय संयम द्वारा सहन (बरदाश्त) कर लेता है वही समत्व योगी है, तथा

द्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥ योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः । स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥ लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः । छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥ कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥ स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरेभ्रुवोः । प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥२७॥ यतेंद्रियमनोबुद्धि-

---

सुखी है ॥२३॥ इस तरह जो मनुष्य बाहरी सुख, दुःखों की इच्छा न करता हुआ अपनी आत्मा ही में सुखी रहता है तथा अपनी आत्मा ही में आराम पाने लगे और इसी प्रकार अपनी आत्मा ही में प्रकाश मिल जाय वह कर्म योगी ब्रह्मस्वरूप समत्व योगी एवं ब्रह्म निर्वाण पद को प्राप्त होकर मोक्ष पाता है ॥२४॥ जिन ऋषि लोगों की द्वन्द्व बुद्धि (सुख दुःखादि) नाश हो गई है और जिन्होंने इस तत्व को मालूम कर लिया है कि सर्वव्यापक एक ही परमेश्वर (आत्मा) है जिन ऋषियों के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं तथा आत्म संयम से सब प्राणी मात्र का कल्याण करने में संलग्न हैं उन्हीं को यह ब्रह्म निर्वाण मोक्ष प्राप्त होता है ॥२५॥ जिनका काम क्रोध नाश हो गया है आत्म संयमी तथा आत्म ज्ञान संपन्न यतियों को निकट रखे हुए के सदृश ब्रह्म निर्वाण रूप मोक्ष प्राप्त होता है ॥२६॥ इन्द्रियों के बाहरी विषय (सुख दुःखादि को) त्याग कर अपनी दोनों भौंह के बीच में दृष्टिको लगाकर नासिका से आने जाने वाले प्राण और अपान वायु

मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त
एव सः ॥२८॥ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥२६॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे
कर्मसंन्यास योगो नाम पंचोऽध्यायः ॥५॥

को सम (बराबर) करके ॥२७॥ इन्द्रिय मन बुद्धि का वशीभूत कर लिया है और जिसने इच्छा, भय तथा क्रोध को त्याग दिया है ऐसा मोक्ष परायण मुनि सर्वदा मुक्त ही है ॥२८॥ मुझे सब यज्ञ और तप का भोक्ता तथा स्वर्ग आदि सब लोकों का महेश्वर (बड़ा स्वामी) जानता है एवं सम्पूर्ण प्राणियों का दोस्त वही पुरुष शान्ति प्राप्त करता है ॥२६॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता
पाँचवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स
संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥ यं

श्री भगवान् बोले—जो कर्म किए हैं उनके फल की इच्छा न करते हुए जो शास्त्रानुकूल अपने कर्त्तव्य कर्म को करता है वही संन्यासी तथा योगी एवं समत्व योगी है निरग्नि जो अग्नि होत्र आदि कर्मों को छोड़ने वाला एवं जो किसी प्रकार का भी कर्म न करे वह संन्यासी व योगी नहीं है ॥१॥

संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव । न ह्यसंन्यस्त-
संकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं
कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण-
मुच्यते ॥३॥ यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥ उद्धरेदात्म-
नाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनोबंधुरा-
त्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥ बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवा-
त्मना जितः । अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्

जिसको संन्यास कहते हैं हे पाण्डव ! उसको ही योग अर्थात् समत्व योग समझना चाहिए क्योंकि मन से कल्पित संकल्प अर्थात् काम्य वुद्धि जो फल की आशा है उसका संन्यास (त्याग) करे विना कोई भी (समत्व) योगी नहीं होता एवं इसको ही सत्य संन्यास कहना चाहिए ॥२॥ (समत्व) योगारूढ होने की चेष्टा करने की वासना करने वाले मुनि के लिये कर्म को शम का साधन बतलाया है तथा उसी मनुष्य के योगारूढ़ एवं पूर्ण योगी बनने पर उसके अर्थ शम को कर्म का कारण बतलाते हैं ।।३॥ इसलिए विचारवान् पुरुष इंद्रियों के (शब्द स्पर्श) विषयों और कर्मों में लवलीन नहीं होता और सम्पूर्ण कामनाओं का संन्यास (त्याग) करता है तब उसको योगारूढ कहते हैं ॥४॥ मनुष्य अपने आपही अपना उद्धार करे अर्थात् ऊंचे को चढ़े तथा कभी भी नीचे को न गिरावे इस कारण हर एक मनुष्य अपना ही सहायक और आप अपना वैरी है ॥५॥ जिसने अपने आप (अन्तष्करण) को वश में कर लिया वह स्वयं अपना वन्धु (सहायक) है

॥६॥ जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः । शीतो-
ष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥ ज्ञानविज्ञानतृप्ता-
त्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी सम-
लोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥ सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्य-
बंधुषु । साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥
योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी

और जो अपने अन्तःकरण को नहीं जीत सका वह स्वयं अपने साथ शत्रुता का सा व्यवहार करता है ॥६॥ जिसने निज आत्मा अर्थात् अन्तष्करण को वश में कर लिया तथा पूर्ण शान्त है उसका (आत्मा) परमात्मा सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख एवं मान, अपमान में सम अर्थात् एकसा बना रहता है ॥७॥ जिसका आत्मा ज्ञान, विज्ञान से सन्तुष्ट है एवं अनेक प्रकार के सांसारिक दृश्य सब प्रत्यक्ष जान लिए हैं और इन्द्रियाँ वशीभूत हो गई हैं तथा कूटस्थ जो सब के आधार आत्मा में जिसकी स्थिति मजबूत हो गई है और मिट्टी, पाषाण तथा सुवर्ण को समान जाने उस समत्व योगी पुरुष को युक्त सिद्धावस्था में प्राप्त हुआ कहते हैं ॥८॥ सुहृत (प्यारे) मित्र, शत्रु, उदासीन (विरक्त) मध्यस्थ जो न शत्रु न मित्र भाव अर्थात् समान भाव में रहने वाले, द्वेष करने वाले, बान्धव, साधु, दुष्ट मनुष्यों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम है अर्थात् इनको भी एक ही आत्मा समझता हो वह आप श्रेष्ठ है ॥९॥ योगी जो कर्म योगी आत्मा के साम्य भाव को जानने वाला एकान्त स्थान में अकेला ही चित्त तथा इन्द्रियों के किसी प्रकार की भी काम्य वासना को न करके आशा और परिग्रह एवं पदार्थों को छोड़कर संग्रह योगाभ्यास में

यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियाः। उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥ समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥ प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥ युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः। शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति

मग्न रहे ॥१०॥ योगाभ्यासी जन पवित्र देश तथा शुद्ध भूमि पर स्थिर आसन बिछावे न तो विशेष ऊंचा हो न अत्यन्त नीचा पहिले कुशा का आसन बाद में मृग चर्म पुनः वस्त्र बिछावे ॥११॥ उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों के व्यापारों को रोक कर मन को एकाग्र कर आत्मा यानी अपने अन्तः करण की द्वैत भाव रूप मलिनता की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे ॥ १२ ॥ काम (शरीर का मेरु दंड पीठ के जो बीच में रहता है) मस्तक और गर्दन को सम अर्थात् सीधी खड़ी लकीर के समान अचल बैठा हुआ दाहिनी और वांई तरफ को न देखता हुआ नाक के आगे के हिस्से को देखता हुआ ॥१३॥ निर्भय होकर अन्तःकरण को शान्त भाव में स्थिर करके ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए मन का संयम करके मेरे में परायण होकर मुझमें ही युक्त हो जाय ॥ १४ ॥ इस तरह हमेशा योगाभ्यास करता हुआ योगी अपने मन को वश करके कर्म योगी आत्मा परमात्मा स्वरूप मुझमें

॥१५॥ नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैवचार्जुन ॥१६॥ युक्ता-
हारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा ॥१७॥ यदा विनियतं चित्तमात्म-
न्येवावतिष्ठते। निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यतेतदा
॥१८॥ यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥१९॥ यत्रो-
परमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं
पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥ सुखमात्यंतिकं यत्तद्

निवास करने वाली परम निर्वाण स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ हे अर्जुन ! जो विशेष भोजन करने वाले और जो बिलकुल न खाने वाले, अत्यन्त सोने वाले व जागने वाले पुरुष को योग सिद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥ जिसका आहार (भोजन) विहार नियमित है और ठीक-ठीक नियम से सोने व जागने वाले शुद्ध कर्माचरण करने वाले को यह योग सुख का देने वाला है ॥ १७ ॥ अच्छे प्रकार संयत (वश में किया हुआ) मन जिस वक्त अपनी आत्मा में अच्छी तरह स्थिर अर्थात् एकाग्र हो जाता है और किसी भी कामना की इच्छा नहीं रहती तब उसको कहते हैं कि मुक्त हो गया ॥ १८ ॥ जिस प्रकार बिना हवा के स्थान में दीपक की ज्योति स्थिर होती है उसी प्रकार चित्त को साम्य भाव अर्थात् योग में लगे हुए योगाभ्यास करने वाले योगी की कही गई है ॥ १९ ॥ योगाभ्यास से विरुद्ध हुआ चित्त जब इधर-उधर घूमने से रहित शान्त रहता है और स्वयं आप आत्मा को अवलोकन कर

बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् । वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥ तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः । मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥ शनैः शनैः रुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थंमनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥२५॥ यतो यतो निश्चलति मनश्चंचलमस्थिरम् ।

आत्मा ही में प्रसन्न हो जाता है ॥ २० ॥ तब वह केवल बुद्धि गम्य तथा इन्द्रियों को अगोचर अत्यन्त सुख है ऐसा अनुभव करता है तथा उस अवस्था में ठहर कर वह तत्त्व से भी विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥ जिसको पाकर दूसरा लाभ इससे विशेष नहीं मालूम होता तथा जहाँ स्थित (ठहरने) से कोई बड़ा भारी दुःख भी उस स्थान से नहीं हटा सकता ॥ २२ ॥ उसको दुःख के छूने से वियोग एवं योग नाम की स्थिति कहते हैं तथा इस योग का अभ्यास मन को उकताए बिना दृढ़ता से करना चाहिए ॥ २३ ॥ संकल्प से पैदा होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं का बिलकुल त्याग कर मन से ही सम्पूर्ण इन्द्रियों को रोक कर ॥ २४ ॥ धैर्य धारण युक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शान्त हो जावे तथा मन को आत्मा में दृढ़ करके किसी प्रकार का विचार मन में न आने दे ॥ २५ ॥ इस प्रकार चित्त को एकाग्र करके चंचल तथा अस्थिर मन जिस किसी ओर को जावे उसको उसी-उसी स्थान से लौटा कर आत्मा में ही लगावे

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् । उपैति शांतरजसं
ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥ युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी
विगतकल्मषः । सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते
॥ २८ ॥ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥ यो मां
पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रण-
श्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥ सर्वभूतस्थितं
यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । सर्वथा वर्तमानोऽपि स
योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं

॥ २६ ॥ शान्त चित्त इस तरह रज से रहित निष्पाप ब्रह्मभूत कर्मयोगी उत्तम सुख का अनुभव प्राप्त करता है ॥ २७ ॥ इस तरह आत्मानुभव में प्राप्त कर्मयोगी पाप रहित ब्रह्म संयोग से मिलने वाले अत्यन्त सुख का आनन्द पूर्वक उपभोग करता है ॥ २८ ॥ इस तरह जिसका अन्तःकरण सब की एकता के साम्यभाव से युक्त हो गया है उसकी दृष्टि सम हो जाती है उसको सर्वत्र ऐसा मालूम होता है कि मैं सब जीवों में और समस्त प्राणी मुझमें हैं ॥२९॥ जो पुरुष मुझको सब जगह अर्थात् सब भूत प्राणियों में देखता है तथा सब को मुझमें देखता है मैं उसको कभी नहीं छोड़ता न वह मुझसे दूर है ॥ ३० ॥ जो सम्पूर्ण के एकत्व भाव से स्थित होकर सर्व भूत प्राणियों में जो निवास करने वाले मुझ परमेश्वर का ध्यान करता है वह कर्मयोगी सब तरह से वर्तता हुआ भी मेरे में रहता है ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! सुख या दुःख अपने बराबर दूसरों

पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगीपरमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन । एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥ चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥ तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥ असंयतात्मना

भी होता है जो इस प्रकार आत्मौपम्य बुद्धि अर्थात् सब को अपनी आत्मा के समान दूसरों के दुःख, सुख अनुभव करता है वह बहुत उत्तम कर्मयोगी है ॥ ३२ ॥ अर्जुन बोला—हे मधुसूदन ! आपने साम्य बुद्धि का योग कहा मैं मन की चंचलता के कारण नहीं जानता कि यह स्थिर रहेगा ॥३३॥ क्योंकि यह मन बड़ा ही चंचल जिद्दी ताक़तवर और मजबूत है इसका निग्रह अर्थात् रोक कर एकाग्र करना हवा की गठरी बांधने के बराबर अत्यन्त कठिन है ॥ ३४ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहु अर्जुन ! निःसन्देह मन बहुत ही चंचल है एवं उसका निग्रह करना और कठिन है । लेकिन हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! वह मन नित्य के अभ्यास और वैराग्य से रोका जा सकता है ॥ ३५ ॥ जिसका मन अपने वश में नहीं है उस पुरुष को साम्य बुद्धि योग का मिलना विशेष कठिन है,

योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता
शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः। अप्राप्य
योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥ कच्चिन्नो-
भयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो
विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥ एतन्मे संशयं कृष्ण
छेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्यु-
पद्यते ॥ ३९ ॥

लेकिन अपने अन्तःकरण को वशीभूत करके प्रयत्न पूर्वक उपाय करने से इस समत्व योग का मिलना सिद्ध है ॥ ३६॥ अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! जो पुरुष समत्व योग में श्रद्धा युक्त है लेकिन इन्द्रियों को वशीभूत न करने से अभ्यास में जिस का मन साम्य बुद्धि स्वरूप योग की पूर्ण अवस्था को न जा सके तो वह किस गति को प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥ हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! वह मनुष्य मोह में प्राप्त होकर ब्रह्म प्राप्ति के रास्ते में सलग्न न होने से उभय भ्रष्ट होने से छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ॥ ३८ ॥ हे कृष्ण ! आप मेरे संशय को अवश्य दूर करें सिवाय आपके इस सन्देह को मिटाने वाला कोई दूसरा नहीं मिल सकता ॥ ३९ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! इस लोक और परलोक में उस पुरुष का विनाश नहीं हो सकता इस कारण हे तात ! कल्याण

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते। नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥ प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीःसमाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥ अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥ तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौर्व-देहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥४३॥ पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपिः सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥ प्रयत्नाद्यतमानस्तु

करने वाले कर्म (समत्व योग में) करने वाले की दुर्गति नहीं हो सकती ॥ ४० ॥ पुण्य (अच्छे) कार्य करने वाले मनुष्यों को प्राप्त होने वाले स्वर्ग लोक आदि को प्राप्त होकर तथा उनमें बहुत वर्ष पर्यन्त निवास करने के बाद योग से भ्रष्ट होने वाले अथवा सम्पूर्ण में सम दृष्टि धारण करने में अधूरा योगी पवित्र धनवानों के यहाँ जन्म लेता है ॥ ४१ ॥ वा वह बुद्धिवान् कर्म योगियों के ही घर में जन्म लेता है यह कार्य इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२ ॥ उस पुरुष को इस तरह जन्म धारण करने से पूर्व जन्म की संचित बुद्धि का संयोग मिलता है हे कुरुनन्दन अर्जुन ! पुनः वह अधिक योगसिद्धि के पाने में पूर्ण प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ अपने पूर्व जन्म में संग्रह किये हुए अभ्यास करके अवश एवं अपनी पूर्ण इच्छा न रहते हुए भी स्वतः पूर्व सिद्धि की ओर खिंच जाता है जिसको कर्मयोग की जिज्ञासा अर्थात् समझने की इच्छा प्राप्त हो गई

योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति
परां गतिम् ॥ ४५ ॥ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानि-
भ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्मा-
द्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥ योगिनामपि सर्वेषां मद्गते-
नांतरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो
मतः ॥ ४७ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

है वह शब्द ब्रह्म को लांघ जाता है ॥ ४४ ॥ इस तरह विशेष यत्न पूर्वक उद्योग करता हुआ पापों से शुद्ध होकर कर्मयोगी एवं समत्व भाव का अभ्यास करने वाला अनेक जन्म लेने के बाद परमगति को प्राप्त होता है । ४५ ॥ तप करने में कर्म योगी अर्थात् समत्व योग का अभ्यास करने वाला योगी ही श्रेष्ठ यानी उत्तम है और ज्ञानी मनुष्यों से भी उत्तम है तथा सब कर्मकांडयों से भी योगी श्रेष्ठ है इस कारण हे अर्जुन! तू योगी बन अर्थात समत्व योग में प्रवेश कर ॥ ४६ ॥ कहे हुए कर्म योगियों अर्थात् सम्पूर्ण कर्म योगियों में से उसको हैं सब से सुन्दर युक्त एवं उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता हूँ कि जो मेरे में अन्तःकरण लगाकर श्रद्धा पूर्वक मुझको हां ध्यान करता है उसी को बहुत जल्दी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४७ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता
छठवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ! मेरे में मन लगाकर मेरे ही आश्रय मे कर्मयोग का अभ्यास करते रहने से तुझको जिस रीति या जिस प्रकार से मेरा समग्र निःसन्देह अर्थात् सब में परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा उसको सुन ॥ १ ॥ यह विज्ञान सहित सम्पूर्ण ज्ञान को मैं तेरे से कहता हूँ जिसको जानने से यहाँ संसार में और कोई पदार्थ जानने के लिये बाकी नहीं रहता ॥ २ ॥ हजारों मनुष्यों में कोई एक विरला सिद्धि प्राप्त करने के लिए एवं परमात्मा को जानने के लिए उपाय करता है तथा प्रयत्न करने वाले अनेक साधकों में से कोई एक ही मुझ परमात्मा के यथार्थ 'स्वरूप' को पहचानता है ॥ ३ ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु (हवा), आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार इस तरह इन आठ भेद करके मेरी प्रकृति भिन्न है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां
महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥ एतद्योनीनि भूतानि
सर्वाणीत्युपधारय । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलय-
स्तथा ॥ ६ ॥ मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥ रसो-
ऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः । प्रणवः सर्ववेदेषु
शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥ पुण्यो गंधः पृथिव्यां च
तेजश्चास्मि विभावसौ । जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि
तपस्विषु ॥ ९ ॥ बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सना-

यह अपरा प्रकृति है, हे महाबाहु अर्जुन ! समझ कि इससे पृथक् जिसने संसार को धारण कर रखा है वह मेरी परा प्रकृति उत्तम जीव स्वरूप है ॥ ५ ॥ ध्यान रख कि "अपरा" और "परा" इन दोनों प्रकृतियों से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति है, इस कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रभव और प्रलय एवं मूल आदि (उत्पत्ति) और अन्त "मैं" ही हूँ ॥ ६ ॥ हे धनञ्जय ! मुझसे परे अर्थात् पृथक् (सांसारिक पदार्थ) कुछ भी नहीं है जिस प्रकार डोरे में माला के दाने गुंथे (पिरोए) हैं तद्वत सब विश्व मुझमें ही व्याप्त है ॥ ७ ॥ हे कौन्तेय ! जल में रस मैं हूँ, चन्द्र, सूर्य में प्रकाश मैं हूँ सब (चारों वेदों) में ओंकार "मैं" हूँ, आकाश में शब्द "मैं" हूँ तथा सम्पूर्ण पुरुषों में पुरुषत्व (ताक़त) "मैं" हूँ ॥ ८ ॥ पृथ्वी में सुगन्धि और अग्नि में तेज "मैं" हूँ, समस्त प्राणियों में जीवन तथा तपस्वियों में तप "मैं" हूँ ॥ ९ ॥ हे पार्थ ! सम्पूर्ण प्राणीमात्र

तनम् । बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् । धर्माविरुद्धो
भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥ ये चैव सात्त्विका
भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान्विद्धि न
त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्व-
मिदं जगत् । मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्य-
यम् ॥ १३ ॥ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥ न मां
दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माययापहृतज्ञाना

का सदा से मुझको ही बीज रूप कारण जान, बुद्धिमानों में बुद्धि तथा तेजस्वियों (प्रतापियों) का तेज "मैं" हूँ ॥ १० ॥ बल वालों में बल "मैं" हूँ काम वासना और विषयासक्ति को त्यागकर हे भरत श्रेष्ठ! धर्म के अनुकूल काम "मैं" हूँ ॥११॥ तथा सात्विक, राजस और तामस भाव में एवं सब पदार्थ मुझ से ही उत्पन्न हैं और मेरे में हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ ॥ १२ ॥ तीन (सत्व, रज, तम) गुणों के भाव द्वारा समस्त संसार मोह में प्राप्त हो रहा है, इस कारण इनसे पृथक् मुझ अव्यय निर्विकार परमेश्वर को नहीं जानता ॥ १३ ॥ यह त्रिगुणात्मक मेरी दैवी माया व प्रकृति अत्यन्त दुस्तर है, इस कारण जो मेरा ही स्मरण करते हैं वह पार हो जाते हैं ॥ १४ ॥ मेरी माया से जिनकी विचार शक्ति नाश होगई है ऐसे मूढ़ (ज्ञान शून्य) दुष्कर्मी (खोटे कार्य करने वाले) नराधम (अधम

आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥ चतुर्विधा भजन्ते मां
जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च
भरतर्षभ ॥ १६ ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति-
र्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः
॥ १७ ॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्व-
मिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥ कामैस्तैस्तैर्हृत-

पुरुष) राक्षसी कर्मों में प्रवृत्त होकर मेरी शरण में नहीं आते ॥ १५ ॥ हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! पुण्यात्मा (पुण्य कर्म करने वाले) पुरुष मुझको चार प्रकार से भजते हैं (१) आर्त बीमारी से सताये हुए वा विपत्ति में डूबे हुए, (२) जिज्ञासु ज्ञान सीखने वाले (३) अर्थार्थी परोपकार के लिए धनोपार्जन की इच्छा से (४) ज्ञानी एवं परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो जाने पर आगे भी कुछ न करता है फिर भी अनन्य भाव से मेरी ही भक्ति करने वाला ॥ १६ ॥ इन चारों में ज्ञानी ही हमेशा एक भक्ति अर्थात् अनन्य भाव से मेरी ही भक्ति करता रहता है और सर्वदा निष्काम बुद्धि से भजन करने वाले ज्ञानी को ही विशेष योग्यता है॥१७॥ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्यारा है मैं ज्ञानी को तो अपना आत्मा ही जानता हूँ इसलिए कि वह अन्तःकरण से मुझ परमात्मा ही में संयोग करके सब को सब से उत्तम यति रूप में ठहरता है ॥ १८ ॥ बहुत जन्म लेने के बाद ज्ञानवान् को ऐसा अनुभव होने से कि जो कुछ है सब

ज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः । तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या
नियताः स्वया ॥ २० ॥ यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्ध-
यार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विद-
धाम्यहम् ॥ २१ ॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन-
मीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्
॥२२॥ अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । देवा-
न्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥२३॥ अव्यक्तं

---

*"वासुदेव" ही है मेरे में मिल जाता है ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है ॥ १९ ॥ अनेक तरह के कामनाओं से नष्ट बुद्धि वाले (स्वर्ग आदि की) वासनाओं से उन्मत्त हुए मनुष्य अलग-अलग (उपासना) से नियमानुकूल सेवा करते हैं ॥ २० ॥ जो-जो जिस-जिस देवता की श्रद्धा से सेवा करता है उसकी श्रद्धा उसी देवता में मैं ठहरा देता हूँ ॥२१॥ उसी की श्रद्धा करके वह देवभक्त उस देव की सेवा करता रहता है इस प्रकार उसको मेरे ही रचना करा हुआ कामफल मिलता है ॥ २२ ॥ लेकिन अल्प बुद्धि वाले पुरुषों को प्राप्त हुए जो फल सो नाशवान हैं अर्थात थोड़े समय में ही नष्ट हो जाते हैं (मोक्षप्रद नहीं) अन्य देवताओं की सेवा करने वाले उनके पास जाते हैं और मेरी सेवा करने वाले मेरी शरण में ॥ २३ ॥

---

* सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ।

मैं प्राणीमात्र में वास करता हूँ इसी से मुझको वासुदेव कहते हैं ।

व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः। परं भावमजानन्तो
ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥ नाहं प्रकाशः सर्वस्य
योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको माम-
जमव्ययम् ॥ २५ ॥ वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि
चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन
॥ २६ ॥ इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्व मोहेन भारत। सर्व-
भूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥ येषां त्वंतगतं
पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमाहनिर्मुक्ता भजन्ते
मां दृढ़व्रताः ॥२८॥ जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति

अबुद्धि अर्थात् मूर्ख पुरुष मेरे सुन्दर व सब से उत्तम अव्यय (जा कभी नाश न हो) रूप को नहीं पहचानते हुए मेरे अव्यक्त (जिसका हिस्सा न हो) रूप को व्यक्त मान रहे हैं ॥ २४ ॥ मैं अपनी योगमाया से ढका हुआ हूँ इस कारण किसी को प्रत्यक्ष नहीं दीखता मूर्ख नहीं जानते कि मैं अजन्मा तथा अव्यय हूँ ॥ २५ ॥ हे अर्जुन! जो हो चुके हैं, वर्तमान हैं, और आगे होंगे उन सम्पूर्ण जीवों को मैं जानता हूँ लेकिन मुझको कोई नहीं पहचानता ॥ २६ ॥ हे भारत! (इन्द्रियों के द्वारा) इच्छा तथा द्वेष से पैदा होने वाले सुख, दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से उत्पन्न मोह में दुःखी हो रहे हैं ॥ २७ ॥ लेकिन पुण्य कर्म करने वालों के दुष्कर्मों की समाप्ति हो गई है वे द्वन्द्व भावों के मोह से विमुक्त होकर दृढ़तापूर्वक मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥ जरा (बुढ़ापा) मरण (मौत) से अलग होने के लिए जो मेरी शरण जाते हैं वे सब ब्रह्म को और सम्पूर्ण

ये । ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः । प्रयाणकाले-
ऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अध्यात्म तथा कर्म को भी मालूम कर लेते हैं ॥ २९ ॥ तथा अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, समेत अर्थात् (मैं ही सब हूँ) ऐसा जानते हैं वे युक्त चित्त से मरण काल में भी मुझको ही जानते हैं ॥ ३० ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत सातवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त हुई ।

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम । अधि-
भूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥ अधियज्ञः

अर्जुन बोला—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या वस्तु है ? अधिभूत किसको कहते हैं ? और अधिदैव किसे कहते हैं ॥ १ ॥ हे मधुसूदन ! अधियज्ञ

कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन। प्रयाणकाले च कथं
ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावो-
द्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥ अधिभूतं क्षरो
भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्। अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देह-
भृतां वर ॥ ४ ॥ अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कले-
वरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति

किस तरह का होता है? इस शरीर में अधिदेह कैसा है? मरण काल में इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य तुमको कैसे जानते हैं? ॥ २ ॥ श्रीभगवान् बोले—परम अक्षर एवं किसी समय मरणावस्था में कभी नाश न होने वाला पदार्थ "ब्रह्म" है हर एक चीज़ का स्वभाव अध्यात्म कहाता है अक्षर ब्रह्म से चर-अचर के भावों की पैदाइश करने का हेतु विसर्ग एवं सृष्टि व्यापार कर्म है ॥ ३ ॥ क्षर अर्थात् पैदा होना, नष्ट होना, घटना, बढ़ना, यह अधिभूत है, और इस पदार्थ एवं प्रत्येक भाव में निवास करने वाला मालिक अधिदैव है जिसको शरीर धारण करने वालों में उत्तम अधियज्ञ अर्थात् सब यज्ञों का प्रधान "मैं" ही हूँ देह धारण करने वालों में श्रेष्ठ! "मैं" इस काया में अधिदेह हूँ ॥ ४ ॥ मरण समय में जो पुरुष मेरी याद करता हुआ अपने शरीर को छोड़ता है निःसन्देह वह मेरे स्वरूप में मिलता है ॥ ५ ॥ हे कौन्तेय! जो अन्त समय में जिस किसी भाव में मग्न रहते हुए स्मरण करते रहने पर

कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥ अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥ कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः। सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥ यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति

शरीर नष्ट होने से उसी भाव में प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ इस कारण हर समय सब काल में तू मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर तथा मेरे में मन और बुद्धि को अर्पण करके मुझमें ही आकर प्राप्त हो जायगा ॥ ७ ॥ हे पार्थ ! मन का दूसरी तरफ़ न लगाकर अभ्यास करते हुए (मन को) स्थिर करता हुआ मनुष्य परम पुरुष जो परमात्मा है उससे मिल जाता है ॥८॥ जो मनुष्य मृत्यु काल के वक्त, इन्द्रियों को वश में करके भक्ति से योगाभ्यास द्वारा मन के वेग को रोककर अपनी दोनों भौंह के मध्य में प्राण अर्थात् दृष्टि को सुन्दरता से स्थित करके कवि (सर्वज्ञ) सर्वदर्शी पुराण (प्राचीन) शास्त्र (अनुशासन करने वाले, सब के नियन्ता,) अणु छोटे स भी छोटे सब को धारण करने वाले अचिन्त्य जो मन से भी न जाना जाय अन्धकार व अज्ञान से परे, सूर्य के समान प्रकाशवान् पुरुष का चिन्तन करता है वह उसी दिव्य परम पुरुष में लय हो जाता है ॥ ९-१० ॥ वेद के जानने वाले जिसको अक्षर कहते

यद्यतयो वीतरागाः । यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च । मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योग धारणाम् ॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥ मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म

हैं वीत, राग, यति एवं आशा रहित संन्यासी जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करते हैं वह पदी अर्थात् परमात्म भाव (ओंकार ब्रह्म) संक्षेप में तुझको समझाता हूँ ॥ ११ ॥ सब इन्द्रिय द्वारों को रोककर और मन को हृदय में अवरोध करके प्राणों को अपने मस्तक में ठहरावे और योग धारणा में बैठे ॥ १२ ॥ इस एकाक्षर ॐ का जप और परमात्मा का ध्यान करता हुआ जो शरीर त्यागता है उसको उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १३ ॥ हे पार्थ ! अनन्य भाव एवं निरन्तर सदा जो मेरा नित्य स्मरण किया करता है उस नित्य युक्त कर्मयोगी को मैं सहज ही मिल जाता हूँ ॥ १४ ॥ मुझको प्राप्त होने पर महात्मा परमसिद्धि को पाकर पुनर्जन्म अर्थात (बार-बार मरना, पैदा होने) को नहीं प्राप्त करते जो दुःखों का घर अशाश्वत अर्थात् क्षणभंगुर है ॥१५॥ हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक अर्थात् स्वर्गादि जितने लोक हैं वहाँ

न विद्यते ॥ १६ ॥ सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रली-
यंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥ भूतग्रामः स एवायं भूत्वा
भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे
॥ १९ ॥ परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्सना-
तनः । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य

से भी लौटना होता है इसलिये हे कौंतेय मेरे में लय होने से फिर जन्म नहीं प्राप्त होता ॥ १६ ॥ जो अहोरात्र अर्थात् काल विज्ञान के जानने वाले पुरुष हैं वह एक हजार युग (सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि यह चार महायुग हैं इसी प्रकार हजार-हजार चारों युग ऐसे हजार युगों का) ब्रह्मा का एक दिन तथा इसी प्रकार हजार युग की एक रात्रि होती है ॥ १७ ॥ ब्रह्मा के दिन का प्रारम्भ होते ही अव्यक्त (कारण प्रकृति) से सब व्यक्त (स्थावर जंगम में सृष्टि) पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा रात्रि आने पर उसी प्रकार अव्यक्त संज्ञा वाली (कारण प्रकृति) में सब मिल जाते हैं ॥ १८ ॥ हे पार्थ ! यह भूत (प्राणियों) का समुदाय बार-बार पैदा होकर रात्रि होने पर अवश (अर्थात् इच्छा हो वा न हो) लय को प्राप्त होता है तथा दिन होने पर पुनः जन्म धारण कर लेता है ॥ १९ ॥ लेकिन ऊपर कथित अव्यक्त (कारण भाव) से भी परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव (आत्मा-परमात्मा) है जो सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी आप नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥ जिस अव्यक्त

न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥ पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यांतः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयातागच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥ शुक्लकृष्णे

को "अक्षर" ऐसा कहकर सम्बोधन करते हैं तथा उसको ही परम एवं उत्कृष्ट अन्तर्गति कहते हैं जिसके प्राप्त होने पर वहाँ से लौटते नहीं वही मेरा परमधाम है ॥ २१ ॥ हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति के द्वारा ही मिलता है जिसके बीच सम्पूर्ण प्राणी मौजूद हैं जिस करके यह सब विश्व व्याप्त हो रहा है ॥ २३ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! तुझको मैं वह काल बतलाता हूँ कि जिसमें गये हुए योगी (ज्ञानी) मनुष्य मरन पर लौट कर नहीं आते (अर्थात् फिर जन्म नहीं धारण करते) और (जिस काल में मरने पर) वापिस आते है वही जन्म लेते हैं॥२३॥ अग्नि, ज्योति, (ज्वाला) दिन, शुक्ल पक्ष तथा उत्तरायण (मकर से मिथुन तक) छः मास इनमे मरे हुए योगी (ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्म में लय होते हैं (अर्थात् लौट कर नहीं आते हैं) ॥ २४ ॥ धूम (अग्नि का धुआं) रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन (कर्क से धन तक) छः मास में (गया हुआ कर्मी) योगी चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् चन्द्रलोक से पुण्य नष्ट होने से लौटता है ॥२५॥ इस तरह संसार के दो रास्ते शुक्ल (प्रकाश युक्त) और

गतीह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यना-
वृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥ नैते सृती पार्थ जान-
न्योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो
भवार्जुन ॥ २७ ॥ वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव । दानेषु
यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा ।
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे अक्षर ब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

———

कृष्ण (अन्धकार युक्त) सनातन माने हुए तथा स्थिर हैं एक से
लौटना नहीं होता दूसरे से लौटना होता है ॥ २६ ॥ हे पार्थ !
इन दोनों सृती अर्थात् मार्गों का तत्व यथार्थ रूप से
मालूम करने वाला कोई भी योगी (समत्वयोगी) मोह को
प्राप्त नहीं होता इस कारण हे अर्जुन ! तू हमेशा (निरन्तर)
(कर्म) योगयुक्त बन ॥ २७ ॥ इस तत्व को जानने वाले वेद,
यज्ञ, दान तथा तप इनमें जो पुण्य फल कहा है (कर्म) योगी
उस सब को त्यागकर उसके परे उत्कृष्ट आद्य स्थान को प्राप्त
होता है ॥ २८ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता
आठवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

———

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञान-
सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥ राजविद्या
राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं
कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥ अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परं-
तप। अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्व-
भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥ न च मत्स्थानि

श्रीभगवान् बोले—दोष दृष्टि से पृथक् अब यह तेरे वास्ते सम्पूर्ण गुह्यतम (छुपे हुए) से भी अत्यन्त गोपनीय विज्ञान (साधन, विधि) सहित ज्ञान तुझसे कहता हूँ जिसको जान कर तू पाप (मोह) से छूट जायगा ॥ १ ॥ यह विज्ञान (साधन विधि) सहित ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का राजा एवं श्रेष्ठ है यही राजविद्या, पवित्र, उत्तम तथा तत्काल ज्ञान देने वाली है तुझको यह राजविद्या व्यवहार करने से सुखकारक धर्म स्वरूप और सुख साध्य है ॥ २ ॥ हे परन्तप! इस तत्व ज्ञान पर अश्रद्धा करने वाले मनुष्य मुझको नहीं प्राप्त होते एवं मृत्यु स्वरूप संसार चक्र में घूमा करते हैं तथा उनको मोक्ष कभी नहीं मिलती है ॥ ३ ॥ मैं अव्यक्त (सूक्ष्म रूप) से ही सारे संसार में व्याप्त (फैल रहा) हूँ सम्पूर्ण भूत (जीव) मेरे शरीर में स्थित (बैठे) हैं मैं उनमें नहीं ठहरता (जिस प्रकार लहरों में समुद्र नहीं रहता लहर समुद्र में हैं) ॥ ४ ॥

भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभृन्न च भूतस्थो
ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥ यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं
वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानी-
त्युपधारय ॥ ६ ॥ सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति
मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्य-
हम् ॥ ७ ॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः
पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय । उदासीन-
वदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥ मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः

तथा वे सब भूत (प्राणी) मुझमें नहीं हैं इस प्रकार देखो यह कैसी मेरी त्रिगुणात्मक माया है जीवों को पैदा करने वाला मेरा आत्मा उनकी रक्षा करता हुआ भी उनमें नहीं रहता ॥५॥ सब स्थान में जाने वाली बड़ी वायु (हवा) नित्य प्रति आकाश में रहते हुए भी आकाश में नहीं मिलता उसी तरह सम्पूर्ण प्राणी मुझमें रहते हुए मुझमें नहीं मिलते ॥ ६ ॥ हे कौंतेय ! कल्प का जब अन्त होता है अर्थात् प्रलय काल में सब जीव मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं तदनन्तर सृष्टि काल में मैं ही उनको उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥ मैं अपनी प्रकृति (माया) को स्वीकार करके स्वभाव के वश में प्राप्त होकर परतन्त्र रूप सम्पूर्ण भूत ग्राम (स्वेदज, अंडज, जरायुज और उद्भिज) को उनके कर्मानुसार बार-बार बनाता हूँ ॥ ८ ॥ हे धनञ्जय ! स्वभाव (उदासीनता) से किये हुए जो कर्म हैं वह सब कर्म मुझ परमात्मा को बंधन में नहीं गेरते हैं ॥ ९ ॥ हे कौंतेय ! मुझ अधिष्ठाता (स्वामी) रूप द्वारा यह त्रिगुणा-

सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेनं कौंतेय जगद्विपरिवर्तते
॥ १० ॥ अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥ मोघाशा
मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीं चैव
प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥ महात्मानस्तु मां पार्थ
दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादि-
मव्ययम् ॥१३॥ सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥ ज्ञान-

त्मक माया चराचर व स्थावर जंगम सम्पूर्ण संसार की रचना करती है इस कारण यह विश्व (संसार) पैदा और नाश होता है ॥ १० ॥ मूढ़ (मूर्ख) लोग मनुष्य शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को नहीं पहचानते, मैं ही सब भूत (प्राणियों) का महेश्वर हूँ ॥ ११ ॥ मेरी अवज्ञा कर हँसी करने ही से उनकी आशा व्यर्थ, कर्म निष्फल, ज्ञान निरर्थ तथा चित्त विक्षिप्त हो जाता है इसके फल से राक्षस तथा असुरों को मोह में लाने वाली तामसी वृत्ति के ही आश्रित रहते हैं ॥ १२ ॥ इस कारण हे पार्थ ! महात्मा लोग दैवी प्रकृति का सहारा लेकर सम्पूर्ण भूत (प्राणियों) के अव्यय आदि स्थान को जानकर अनन्य मन होकर मेरा ही भजन करते हैं ॥ १३ ॥ वे पुरुष सर्वदा निरन्तर मेरे गुण, कीर्तन (स्तोत्रादिकों का पाठ) करते रहते हैं मुझको प्राप्त होने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं एवं नित्य योग युक्त होकर मेरी वन्दना करते हुए दृढ़ भक्ति से मेरी उपासना करते रहते हैं ॥ १४ ॥ इसी प्रकार अन्य पुरुष अभेद भाव एवं भेद-भाव से

यज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन
बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधा-
हमहमौषधम् । मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । वेद्यं पवित्र-
मोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥ गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी
निवासः शरणं सुहृत् । प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीज-
मव्ययम् ॥ १८ ॥ तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि
च । अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अथवा ज्ञान यज्ञ द्वारा ही मेरा भजन करते रहते हैं मैं सर्वतो-
मुख (विश्वरूप एवं बिराट रूप) हूँ ॥ १५ ॥ मैं क्रतु अर्थात्
(श्रौत यज्ञ अग्निष्टोम यज्ञ, सोम रस तथा साध्य यज्ञ) मैं ही
यज्ञ (स्मार्त पञ्च यज्ञ जो मृत्यु का भय छुटाने वाला) हूँ
मैं ही स्वधा (श्राद्ध आदि का अन्न) हूँ मैं ही औषधि हूँ मैं ही
मन्त्र (मन को स्थिर करने वाला)हूँ, मैं ही प्राण वायु स्वरूप
घी और अग्नि तथा अग्नि में छोड़ी हुई आहुति मैं ही हूँ ॥१६॥
इस सम्पूर्ण संसार का पिता, माता, धाता (धारण पोषण
करने वाला) और पितामह (दादा) मैं हूँ और जानने लायक
वेदों में पवित्र ओंकार ऋग्, साम, यजु मैं हूँ जो (मैं)
आत्मा को जान लेता है वही मोक्ष पाता है ॥ १७ ॥ मैं ही
जीव संसार की गति भरण पोषण करने वाला सब का स्वामी
साक्षी (शुभाशुभ देखने वाला) रहने का स्थान, भोग स्थान,
कल्याण कर्ता, पैदा करने वाला, नाश करने वाला, सब का
आधार, निधान और बीज रूप अविनाशी मैं ही हूँ ॥ १८ ॥
हे अर्जुन ! मैं ताप (गर्मी) देता हूँ, वर्षा करना वा न करना
अमृत (जीवन) मृत्यु (मरण) सत् असत् मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥ अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥ अहं हि सवयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

जो त्रिगुणात्मक (ऋग्, यजु, साम) कामना सहित कर्मकाण्ड के अनुयायी हैं वे यज्ञादि कर्म द्वारा मेरी पूजा व उपासना करते हुए पापों से रहित होकर स्वर्ग प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं उनके द्वारा प्राप्त पुण्य से इन्द्रादि देवताओं के लोक को जाकर दिव्य भोग व सुख पाते हैं ॥ २० ॥ वे (तीनों वेद के अनुसार) कामना युक्त कर्म करने वाले विशाल स्वर्ग के सुख भोग कर पुण्य का ह्रास होने से फिर मृत्यु लोक में (जन्म लेकर) आते हैं, इस तरह त्रयी धर्म (वेद विहित केवल ज्ञान-शून्य कर्म) करते हैं उनका बार बार जन्म लेना नहीं छूटता जो कामना परत्व कार्य करते हैं ॥ २१ ॥ अनन्य निष्ठ (परमात्मा को अपनी आत्मा से दूसरा नहीं जानते) जो पुरुष मेरा ही चिन्तन करते हुए मुझको ही भजते हैं नित्य योग युक्त उन पुरुषों का योग क्षेम मैं ही वहन (प्राप्त) करता हूँ ॥२२॥ हे अर्जुन ! जो श्रद्धा सहित दूसरे देवताओं की भी पूजा करते हैं और विधि अयुक्त है अर्थात् मोक्षदायक नहीं है तब भी मेरी

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥
यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः। भूतानि
यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥ पत्रं
पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्यु-
पहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥ यत्करोषि यदश्नासि

ही पूजा करते हैं ॥ २३ ॥ मैं परमात्मा ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता तथा स्वामी हूँ किन्तु अन्य देवता के उपासक इस रहस्य को नहीं जानते इसलिए परमात्मा की उपासना से अलहदा रहते हैं ॥ २४ ॥ जो मनुष्य देवताओं के उपासक हैं वह देवताओं के लोक में पितरों का यजन करने वाले पितृ लोक में तथा पृथक्-पृथक् भूतों को पूजने वाले भूतों के पास पहुँचते हैं एवं *मेरा यजन करने वाले ही मेरे पास आते हैं ॥ २५ ॥ जो मुझको भक्तिपूर्वक एक वा आधा (तुलसी पत्र, पुष्प, फल एवं यथा शक्ति जल भी अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि एकाग्र चित्त वाले पुरुष का भेट किया हुआ मैं प्रसन्न चित्त स ग्रहण करता हूँ ॥२६॥ हे कौंतेय ! तू जो कुछ करता है जो कुछ खाता

---

* ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रबुद्ध चर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति मत्परम् ॥ १ ॥

ब्रह्मा तथा शिव तथा दूसरे देवताओं का यजन करने वाले भी साधु मुझमें आकर मिल जाते हैं।

नारायणीयोपाख्यान

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं तथा॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णु मेव यजन्ति ते॥

यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व
मदर्पणम् ॥२७॥ शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजंति
तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥ अपि
चेत्सुदुराचारो भजंते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मंतव्यः
सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा
शश्वच्छांति निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे
भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि

है, जो हवन करता है, जो कुछ दान करता है व तप करता है वह सम्पूर्ण मुझको अर्पण कर ॥ १७ ॥ हे अर्जुन ! इस तरह करने से (कर्म करता हुआ भी) कर्मों के अच्छे बुरे फल स्वरूप कर्म बन्धनों से तू पृथक् रहेगा तथा कर्म संन्यास योग करके योग युक्तात्मा अर्थात् शुद्धान्तःकरण होता हुआ मुक्त होकर मुझमें लय हो जायगा (आवागमन से छूट जायगा) ॥ २८ ॥ मैं सब प्राणियों में समान रूप से अवस्थित हूँ न तो कोई मेरा शत्रु है और न मित्र भक्ति पूर्वक जो मेरा यजन करते हैं वे ही मुझमें और मैं उनमें हूँ ॥ २९ ॥ अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो वह भी और को उपासना त्याग कर मेरा ही यजन करता है तो उसको भी साधु समझना अर्थात् उसकी बुद्धि का ज्ञान सुन्दर रहता है ॥३०॥ वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायगा और नित्य शान्ति हुआ हे कौंतेय ! तू अच्छी प्रकार समझ वह मेरा भक्त किसी काल में भी नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपियांति परांगतिम् ॥३२॥ किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ऽध्यात्मयोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! सर्वतोभाव से मेरी शरण में रहने वाले पुरुष यदि पाप योनि (स्त्री, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज) चाण्डालादि भी हों वे सब भी परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥ अतिरिक्त इसके जो पुण्यवान् ब्राह्मण, भक्त राजर्षियों(क्षत्रियों)के विषय में तो कहना ही क्या है ? इसलिए हे अर्जुन ! तू इस अनित्य और दुःखकारक मृत्यु लोक में मेरा ही यजन कर ॥ ३३ ॥ मेरे में मन लगा मेरा भक्त होकर मेरी ही पूजा करता हुआ मुझको ही नमस्कार कर, इस तरह मत्परायण (सिवाय मेरे और किसी को न जानना) होकर योग का अभ्यास करता हुआ मुझको प्राप्त हो जायगा ॥ ३४ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता नवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः । यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥ न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः । अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥ यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः । सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः । भवन्ति भावा भूतानां मत्त

श्री भगवान् बोले—हे महाबाहु ! मेरे वचनों में तेरी अत्यन्त प्रीति होने से हां मैं तेरे कल्याण के वास्ते और जो अतीव गुप्त रहस्य की बात कहता हूँ उसको सुन ॥ १ ॥ मेरे प्रभव अर्थात् उत्पन्न होने की महिमा को देवता और महर्षिगण भी नहीं जानते इसलिए कि देवता और महर्षिगणों का आदि कारण मैं ही हूँ ॥ २ ॥ जो मनुष्य मुझ आत्मा व परमात्मा को जानता है कि मैं अजन्मा अर्थात् जन्म और आदि से रहित सम्पूर्ण लोकों का बड़ा स्वामी हूँ वही मोह से पृथक् होता हुआ सब पापों से छूट जाता है ॥ ३ ॥ बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय ॥ ४ ॥ अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अयश, (अपयश) आदि भाव (अवस्था) प्राणिमात्र में

नवें व दशवें अध्याय का नित्य पाठ करने से रोजगार लगता है।

एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥ महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनव-
स्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः
॥ ६ ॥ एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्रसंशयः ॥ ७ ॥ अहं
सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजंते मां
बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोध-
यंतः परस्परम् । कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमन्ति
च ॥ ९ ॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

मेरे द्वारा ही पैदा होते हैं ॥५॥ सात महर्षि (*मरीच्यादि) इनसे पहिले के †चार और ‡मनु यह मेरे ही मन एवं मानस से पैदा किये हुए भाव हैं अर्थात इन सब से ही सम्पूर्ण प्रजा हुई है ॥ ६ ॥ जो पुरुष विस्तार पूर्वक मेरी विभूति तथा योग एवं विस्तार करने वाली शक्ति के कर्म को जान लेता है उसको निश्चय स्थिर कर्म योग मिलता है ॥ ७ ॥ यह मालूम करके कि मैं ही सब का पैदा करने वाला हूँ और मेरे द्वारा ही सब की प्रवृत्ति प्राप्त होती है. इसलिए ज्ञानवान् पुरुष भाव से ही मेरा ध्यान करते हैं, भजन करते हैं ॥ ८ ॥ वे ज्ञानी पुरुष मुझमें मन लगाकर तथा प्राणों को धारण कर आपस में ज्ञान करते हुए और मेरे इतिहास कहते हुए सदा सन्तुष्ट होकर विचरते हैं ॥ ९ ॥ इस तरह सर्वदा निरन्तर योग युक्त होकर एवं समाधान करते हुए जो ज्ञानी पुरुष प्रीति पूर्वक मुझको

---

* महाभारत शान्ति पर्व, मरीचि, अंगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ ॥ † वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ॥ ‡ स्वायुम्भव आदि ॥

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥ तेषा-
मेवानुकम्पाथ महमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो
ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं
दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥ आहुस्त्वामृषयः सर्वे
देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव
ब्रवीषि मे ॥१३॥ सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम । भूतभावन

स्मरण करते हैं उन सब को "मैं" ही समत्व बुद्धि का योग देता हूँ जिसके द्वारा वह मुझको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥ तथा उनके ऊपर भलाई करने ही की इच्छा से "मैं" उनके अन्तःकरण में स्थित होकर तेज युक्त ज्ञान दीपक से अज्ञान स्वरूप अन्धकार का संहार करता हूँ ॥ ११ ॥ अर्जुन बोला— तुम ही परब्रह्म, श्रेष्ठ स्थान, परम पवित्र पदार्थ हो इस बात को देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास आदि आपको दिव्य शाश्वत पुरुष, आदि देव, अजन्मा और सर्व विभु एवं सर्वव्यापक कहते है तथा आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं ॥ १२ । १३ ॥ हे केशव! आप जो मुझसे कहते हैं मैं सब सत्य मान रहा हूँ हे भगवन्! आपकी व्यक्ति जो स्वरूप है उसको देवता तथा दानव नहीं जानते ॥ १४ ॥ हे भूतेश! सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) को पैदा करने वाले हे देवदेव! (सब देवताओं के देव) हे जगत्पते! (संसार के स्वामी)

भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥ वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं
व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥ कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा
परिचिन्तयन्। केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भग-
वन्मया ॥ १७ ॥ विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जना-
र्दन। भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

श्री भगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

हे पुरुषोत्तम! (पुरुषों में उत्तम) आप स्वयं ही अपने को जानते हो ॥ १५ ॥ इसलिए आपकी जो दिव्य विभूतियाँ (अवतार) हैं उन विभूतियों के द्वारा इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करते हो सो आप ही कृपा करके बतलाइये ॥ १६ ॥ हे योगिन्! (योगिराज) कृपा करके यह बतला दीजिए कि निरन्तर आपका ध्यान करता हुआ मैं आपको किस प्रकार पहचान सकूँ तथा हे भगवन्! मैं आपको किन-किन पदार्थों में आपका ध्यान करूँ ॥ १७ ॥ हे जनार्दन! कृपा करके अपनी विभूति और योग मुझको पुनः समझाकर कहो इस कारण कि आपके अमृत समान भाषण को सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! तो अब मैं अपनी दिव्य विभूतियों में से प्रधान-प्रधान बताता हूँ जैसे गंगा की बालू के टुकड़े समुद्र की लहर और नक्षत्रों (तारों) की संख्या इसी प्रकार मेरी विभूतियाँ असंख्य हैं ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च
मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥ आदित्यानामहं
विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मि नक्ष-
त्राणामहं शशी ॥ २१ ॥ वेदानां सामवेदोऽस्मि देवा-
नामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि
चेतना ॥ २२ ॥ रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्ष-
रक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। सेना-
नीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥ महर्षीणां
भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि

हे गुडाकेश! सम्पूर्ण भूतों (प्राणीमात्र) में व्यापक रूप से रहने वाला आत्मा "मैं" हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणी मात्र का आदि, मध्य एवं अन्त "मैं" हूँ ॥ २० ॥ द्वादश (बारह) आदित्यों (सूर्यों) में विष्णु स्वरूप "मैं" हूँ (ज्योतिश्चक्र) सम्पूर्ण तेजस्वियों में अंशुमान-सूर्य तथा ४६ मरुद्गणों में मरीचि एवं अश्विनी आदि २८ नक्षत्रों में चन्द्रमा "मैं" हूँ ॥ २१ ॥ चारों वेदों में सामवेद "मैं" हूँ इन्द्रियों में मन "मैं" हूँ तथा भूत (प्राणियों) में प्राण शक्ति "मैं" हूँ ॥२१॥ ग्यारह रुद्रों में शंकर "मैं" हूँ यक्ष, राक्षसों में कुवेर "मैं" हूँ अष्ट वसुओं में पावक "मैं" हूँ सात पर्वतों में मेरु पर्वत "मैं" हूँ ॥ २३ ॥ हे पार्थ! पुरोहितों में बृहस्पति मुख्य हूँ सेना के नायकों में कार्तिकेय स्कन्द "मैं" हूँ तथा जलाशयों में समुद्र "मैं" हूँ ॥ २४ ॥ महर्षियों में भृगु "मैं" हूँ वाणी में एक अक्षर "ओं"कार हूँ यज्ञों में जपयज्ञ "मैं" हूँ स्थावर अर्थात् बिना चलने वालों में

स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः । गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥ उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माम-मृतोद्भवम् । ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥ आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् । प्रज-नश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मिवासुकिः ॥ २८ ॥ अनं-तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् । पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥ प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् । मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥ पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् । झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि

हिमालय "मैं" हूँ ॥ २५ ॥ सब वृक्षों में पीपल और देवर्षियों में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि "मैं" हूँ ॥ २६ ॥ घोड़ों में उच्चैःश्रवा (जो अमृत मंथन के समय समुद्र से निकला था) "मैं" हूँ, गजेन्द्रों में ऐरावत (इन्द्र का वाहन) मनुष्यों में राजा "मैं" हूँ ॥ ॥ २७ ॥ हथियारों में वज्र मैं हूँ गौओं में कामधेनु मैं हूँ प्रजा (सन्तान) उत्पन्न करने वाला काम "मैं" हूँ तथा सर्पों में वासुकी "मैं" हूँ ॥ २८ ॥ नागों में अनन्त (शेषनाग) "मैं" हूँ यादस् जल में रहने वाले जीवों में वरुण तथा पितरों में अर्यमा (पितृश्वर) "मैं" हूँ और दुष्ट तथा पापियों को दंड देने वाला यम "मैं" हूँ ॥२९॥ दैत्यों (राक्षसों) में प्रह्लाद "मैं" हूँ नाश करने वालों में काल "मैं" हूँ पशुओं में मृगेन्द्र अर्थात् सिंह और पक्षियों में गरुड़ "मैं" हूँ ॥ ३० ॥ जल्दी चलने वालों में पवन "मैं" हूँ शस्त्र धारण करने

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्य मध्यात्मसंज्ञितम् । यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥ भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥ एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर । द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥ मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो । योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला—मेरे ऊपर कृपा करके आपने परम गोपनीय जो अध्यात्म संज्ञा वाली बात कही इसी कारण मेरा भ्रम(मोह) चला गया ॥ १ ॥ हे कमल लोचन! इसी मुताबिक भूतों (जीवों) की उत्पत्ति (पैदाइश) लय (नाश) तथा आपके अक्षय (जो कभी नाश न हो) माहात्म्य को भी मैंने आपसे यथावस्थित सुना ॥ २ ॥ अनन्तर इसके हे परमेश्वर! आपने अपना वर्णन जिस तरह का किया है हे पुरुषोत्तम! मैं आपके उसी मुताबिक ईश्वरी स्वरूप को अपने समक्ष अवलोकन करने की इच्छा करता हूँ ॥ ३ ॥ हे प्रभो! अगर आप जानते हैं कि वह स्वरूप मैं देखने का अधिकारी हूँ तो हे योगेश्वर! आप अपना अव्यय स्वरूप मुझको दिखा दीजिये ॥ ४ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! मेरे अनेक रङ्ग तथा अनेक तरह के एवं आकारों के सैकड़ों तथा हजारों दिव्य (शोभायमान) स्वरूपों

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नाना-
विधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥ पश्या-
दित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणि
पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥ इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य
सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि
॥७॥ न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं
ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः। दर्श-
यामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥ अनेकवक्त्र-

को देख ॥ ५ ॥ १२ सूर्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विनी कुमार, तथा ४९ मरुद्गण, हे भारत! आश्चर्य से अवलोकन कर जो पूर्व में कभी नहीं देखे होंगे ॥ ६ ॥ हे गुडाकेश! यहाँ इकट्ठे हुए सम्पूर्ण चराचर संसार को देख अतिरिक्त इसके और जो कुछ तू मेरे शरीर में देखने की इच्छा रखता हो उसको देख सकता है ॥ ७ ॥ लेकिन तू अपनी इस निगाह से नहीं देख सकता है मैं तुझको दिव्य दृष्टि देता हूँ इससे मेरे ईश्वरी योग सामर्थ्य को अवलोकन कर ॥ ८ ॥ सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन् धृतराष्ट्र! इस प्रकार सम्पूर्ण योगों के प्रभु ईश्वर हरि ने अर्जुन को सुन्दर स्वरूप एवं विश्व रूप (विराट् रूप) दिखाया ॥ ९ ॥ विश्व रूप के बहुत से मुख और आँखें थीं. उनमें अनेक प्रकार अकथनीय पदार्थ दृष्टि गोचर होते थे तथा

नयनमनेकाद्भुतदर्शनम् । अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेको-
द्यतायुधम् ॥ १० ॥ दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेप-
नम् । सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भाः सदृशी
सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥ तत्रैकस्थं जग-
त्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा । अपश्यद्देवदेवस्यशरीरे पांडव-
स्तदा ॥ १३ ॥ ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनं-
जयः । प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवान्स्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेष संघान् । ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च

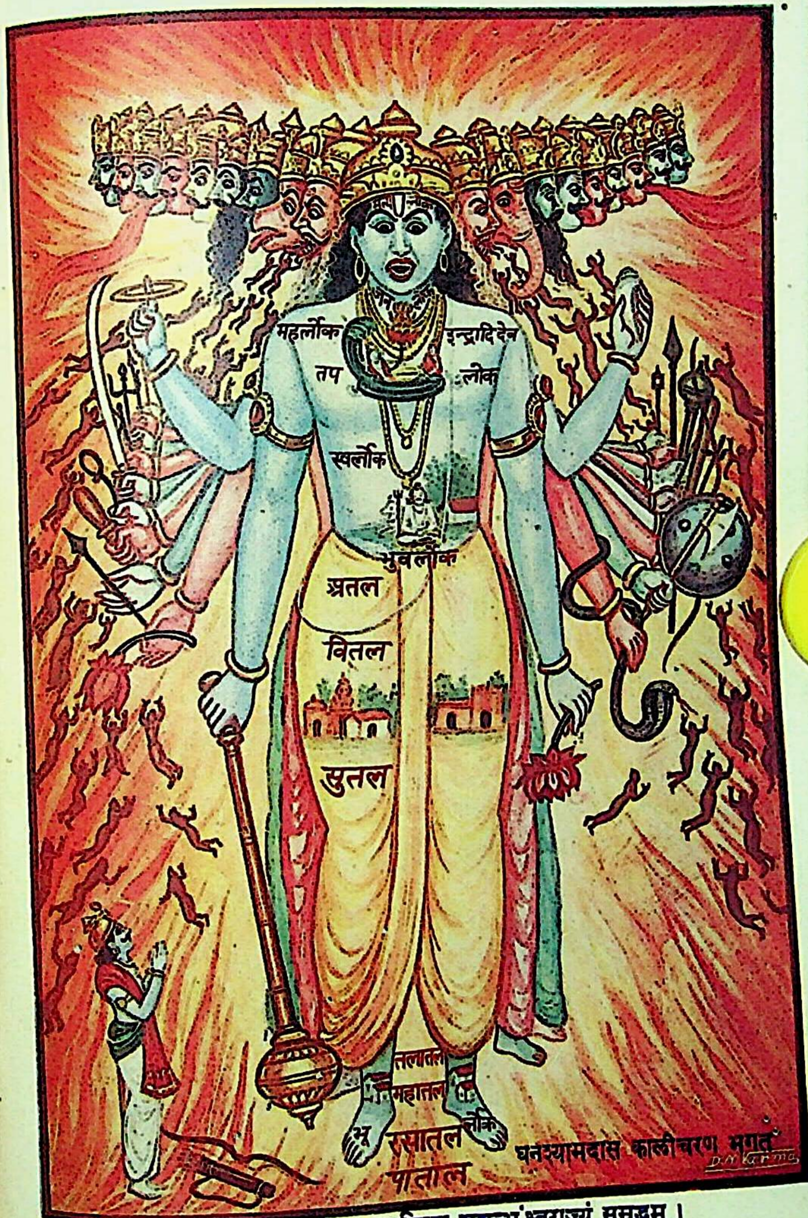
उनमें बहुत तरह के सुन्दर अलंकार (गहने) थे तथा अनेक तरह के दिव्य हथियार लगे थे ॥ १० ॥ उस विराट् (विश्व रूप) सर्वतोमुख, अनन्त तथा आश्चर्य युक्त मुखों पर सुन्दर सुगन्धित उपटन लग रहा था दिव्य वस्त्र तथा पुष्पों से भी सुसज्जित था ॥ ११ ॥ आकाश में यदि एक साथ १ सहस्र सूर्य का प्रकाश हो तब वह कुछ-कुछ उस (विराट्) के समान मालूम हो ॥ १२ ॥ इसके अनन्तर उस देवाधिदेव के शरीर में अनेक तरह से विभक्त करा हुआ अर्जुन को सम्पूर्ण संसार इकट्ठा ही दीखने लगा ॥१३॥ तब तो आश्चर्य में गोता लगाते हुए के समान उस अर्जुन के रोमाञ्च खड़े होगये तथा अपने शिर को झुकाकर हाथ जोड़कर नमस्कार करके (विराट्) देवता से इस तरह कहा ॥ १४ ॥ अर्जुन ने कहा—हे देव ! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं को तथा अनेक तरह के

दिव्यान् ॥ १५ ॥ अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां
सर्वतोऽनंतरूपम् । नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि
विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥ किरीटिनं गदिनं चक्रिणं
च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् । पश्यामि त्वां दुर्नि-
रीक्ष्यं समंताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥ त्वम-
क्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य प' निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे
॥ १८ ॥ अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंत बाहुं शशि सूर्य-
नेत्रम् । पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्व-

जीव समूहों को इसी प्रकार कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्माजी (सब देवताओं के मालिक) सब ऋषि एवं वासुकि, आदि सर्प गण को देख रहा हूँ ॥ १५ ॥ बहुत सी बाहु, अनेक पेट, अनेक मुँह, अनेक नेत्रों को धारण करते हुए अनन्त स्वरूप आपको ही मैं सर्वत्र देख रहा हूँ परन्तु हे विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! आपका न तो अन्त, न मध्य तथा आदि मुझे नहीं दीखता है ॥ १६ ॥ किरीट, गदा, चक्र को धारण करते हुए सब दिशाओं में प्रकाश से पूरित करते हुए तेज, राशि चमकती हुई अग्नि तथा सूर्य के अनुसार तेज वाले जो आँखों से देखने में न आवे और सर्वत्र सब जगह मैं आपके ही अनुपमेय स्वरूप को देखता हूँ ॥ १७ ॥ आपही परम अक्षर (ब्रह्म) आपही जानने लायक हैं आपही इस सम्पूर्ण विश्व (संसार) के अन्तिम आश्रम (सहारा) हैं तुम ही अविनाशी धर्म के रक्षक तथा आपको ही मैं सनातन पुरुष जानता हूँ ॥ १८ ॥ मैं जानता हूँ कि आप आदि, मध्य और अन्त से अलहदा हो।

मिदं तपंतम् ॥ १६ ॥ द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः । दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥ अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणंति । स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥ रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च । गंधर्वयक्षासुरसिद्ध संघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥ रूपंमहत्ते

आपकी अनन्त शक्ति और अनन्त भुजा (हाथ) हैं। चन्द्र, सूर्य आपके दोनों नेत्र हैं प्रज्वलित अग्नि पुञ्ज के समान आपका मुखारविन्द है अपने तेज से ही इस सम्पूर्ण संसार को तपा रहे हैं एवं प्रकाश युक्त कर रहे हैं ॥ १६ ॥ आकाश और पृथ्वी के मध्य का भाग तथा सम्पूर्ण दिशाओं में केवल एक मात्र आप ही व्याप्त हैं हे महात्मन्! आपके इस अनुपमेय उग्र स्वरूप को देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं ॥ २० ॥ देखो यह देवताओं के समूह आपके शरीर में प्रवेश कर रहे हैं तथा डरे हुए हाथ जोड़कर कुछ प्रार्थना भी करते हैं तथा महर्षि गण एवं सिद्ध पुरुष स्वस्ति-स्वस्ति कह कर अनेक प्रकार के स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुती करते हैं ॥ २१ ॥ रुद्र ११, आदित्य १२, वसु ८ तथा साध्य गण, विश्वेदेव २, अश्विनी कुमार २, मरुद्गण ४६, उष्मपा (-पितर अर्थात् गरम-गरम अन्न भोजन करने वाले) गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, इसी तरह सिद्धों के झुंड के झुंड यह सब आश्चर्य से आप ही की तरफ देखते हैं ॥ २२ ॥ हे महाबाहु ! आपके अनेक मुख, बहुत-सी



तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्वराज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताःपूर्वमेव निमित्तमात्रं भवसव्यसाचिन् ॥ गी० अ० ११।३३ ॥

बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् । बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥ नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् । दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥ दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि । दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥ अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः । भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

आँखों, बहुत-सी भुजाओं, बहुत-सी जंघाओं बहुत से पैरों, और बहुत से उदरों (पेट) वाले तथा बड़े-बड़े भयानक दाँत भयंकर मुख वाले स्वरूप को अवलोकन कर सम्पूर्ण लोगों और मुझको भी भय से घबड़ाहट होती है ॥ २३ ॥ बहुत प्रकार के प्रकाशमान वर्णों से युक्त आकाश से लगे हुए जावड़ों को प्रसारित(फैलाये हुए)मुख वाले तथा बड़े-बड़े चमकीले नेत्रों के सहित आपको देखकर हे विष्णो ! मेरा हृदय घबड़ा गया है मुझको धैर्य तथा शान्ति नहीं है ॥ २४ ॥ आपकी बड़ी-बड़ी विकराल डाढ़ों से प्रलय कालकी अग्निके समान भयंकर आपके मुखों को अवलोकन करके मुझको दिशाएँ (किसी ओर जाने का रास्ता) नहीं दीखता न चित्त में कुछ आराम ही होता है हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हो ॥२५॥ तथा यह सब राजाओं के झुंड सहित धृतराष्ट्र के सब पुत्र, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, सूत पुत्र वीर कर्ण, एवं हमारी ओर के भी प्रधान-प्रधान योद्धागण ॥ २६ ॥ आपके विकराल भयानक तथा

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयान-
कानि। केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यते चूर्णितैरुत्तमांगैः
॥ २७ ॥ यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा
द्रवंति। तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्य-
भिविज्वलंति ॥२८॥ यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशंति-
नाशाय समृद्धवेगाः। तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि
वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥ लेलिह्यसे ग्रसमानः
समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः। तेजोभिरापूर्य जग-
त्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥ आख्याहि

प्रज्वलित मुखों में बिना प्रयास प्रवेश कर रहे हैं और कुछ लोग ऐसे भी मालूम होते हैं कि जिनके मस्तक आपके दान्तों के मध्य की संधियों में दबे हुए चूर्ण सा मालूम हो रहे हैं ॥२७॥
जिस तरह नदियों का पानी सब ओर से समुद्र की तरफ ही वेग से जाता है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण वीरगण सब ओर से आपके ही प्रज्वलित मुखों में घुस रहे हैं ॥ २८ ॥ जैसे पतंग (पक्षी)अपना शरीर नष्ट करने के लिये अग्नि में एक दम गिरते हैं उसी तरह से यह सम्पूर्ण मनुष्य अपने नाश के लिए सब तरफ़ से आपके मुखों में जा रहे हैं ॥२९॥ हे विष्णो ! सब तरफ़ से सम्पूर्ण मनुष्यों को अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा निगलकर आप अपनी जिह्वा चाट-चाटकर स्वाद ले रहे हो तथा आपकी उग्र प्रभाएँ सम्पूर्ण संसार को अपने तेज (प्रकाश) से व्याप्त होकर चमक रही हैं ॥ ३० ॥ मुझको बतलाइये कि इस प्रकार उग्र रूप को धारण करने वाले आप कौन हैं ? हे देववर ! अर्थात देवताओं को वर देने वाले श्रेष्ठ आपको नमस्कार है आप

मे को भवानुग्ररूपो नमोस्तु ते देववर प्रसीद। विज्ञातु-
मिच्छामि भवंतमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१॥

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। ऋतेपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्। मयैवैते निहताः पूर्व-मेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥ द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।

प्रसन्न हूजिए आप आदि पुरुष कौन हैं मैं यह जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं आपके इन स्वरूपों को कुछ भी नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान् बोले—मैं मनुष्यों का नाश करने वाला (जो कि उनके दुष्ट कर्मों से बढ़ा है) काल हूँ इस स्थान पर उन (दुष्ट) पुरुषों का संहार करने के लिए ही प्राप्त हुआ हूँ तू इनसे न लड़ेगा तब भी अपनी सेना में खड़े हुए यह सब योद्धा (रथी, महारथी आदि वीर) तत्काल मरने वाले हैं ॥३२॥ इस कारण तू उठ खड़ा हो तथा यश को प्राप्त कर अपने शत्रुओं पर विजय पाकर समृद्ध (सम्पूर्ण) राज्य को निष्कंटक भोग। हे सव्यसाची इन सब को मैंने पूर्व ही में मार दिया है तू केवल निमित्त मात्र (सिर्फ़ नाम के लिए ही) खड़ा हो ॥३३॥ मैंने द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, तथा कर्ण एवं और बहुत से वीर योद्धाओं का नाशकर दिया है घबड़ा नहीं उनको

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धयस्व जेताऽसि रणे
सपत्नान् ॥ ३४ ॥

संजय उवाच—

एतद्श्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः
किरीटी। नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः
प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते
च। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च
सिद्धसंघाः ॥३६॥ कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे

तू अवश्य मारैगा तथा इस युद्ध में तेरी ही विजय(जीत)निश्चय
है ॥ ३४ ॥ सञ्जय ने कहा—केशव (श्रीकृष्ण) के ऐसे वचन
सुनकर अर्जुन बहुत ही भय से डर कर तथा शरीर कांपता
हुआ गले से कोई भी वाक्य नहीं निकलते थे ऐसी अवस्था में
दोनों हाथों को जोड़ नमस्कार करके नम्रता पूर्वक भगवान् से
इस प्रकार बोला ॥ ३५ ॥ अर्जुन ने कहा हे हृषीकेश ! सम्पूर्ण
संसार आप ही के गुणगांन करने से प्रसन्न होता है और उसमें
सब प्रीति रखता है एवं राक्षस गण आपको देख कर दशों
दिशाओं में भाग जाते हैं तथा सब सिद्ध पुरुषों के समुदाय
आप ही को नमस्कार करते हैं सो यह उचित ही है ॥ ३६ ॥
हे महात्मन् ! आपकी वन्दना वे सब क्यों नहीं करेंगे ? इसलिये
कि आप ब्रह्मदेव के भी आदि कारण तथा उससे भी परम
श्रेष्ठ हो हे अनन्त ! हे देवदेव ! हे जगन्निवास ! सत् तथा

ब्रह्मणोप्यादिकर्त्रे । अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं
सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥ त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्व-
मस्य विश्वस्य परं निधानम् । वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च
धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥ वायुर्यमोऽग्नि-
र्वरुणःशशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च । नमो नमस्ते-
ऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोपि ततोऽसि सर्वः
॥ ४० ॥ सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव
हे सखेति । अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रण-

असत् भी आप ही हैं और इन दोनों से भिन्न जो अक्षर है
वह भी आप हैं ॥ ३७ ॥ आप आदि देव, आप पुरातन पुरुष
हो आप ही इस विश्व के परम आधार हो आप ही जानने
वाले ज्ञाता तथा मालूम करने योग्य ज्ञेय आप हो तथा परमपद
भी आप ही ने इस संसार को बढ़ाकर व्याप्त किया है ॥ ३८ ॥
वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति (ब्रह्मा) तथा
परदा भी आप ही हैं आपको हजार बार नमस्कार है और
फिर भी नमस्कार है ॥ ३९ ॥ हे सर्वात्मक ! आपको सामने से
नमस्कार है तथा सब तरफ से आपको नमस्कार है आपका
वीर्य (पुरुषार्थ) अपार हैं तथा आपका अतुल पराक्रम अर्थात्
आप सब में परिपूर्ण हैं इस कारण आप सर्व हैं ॥ ४० ॥
आपकी इस प्रकार की महिमा को नहीं जानते हुए मैंने अपना
मित्र (दोस्त) मानकर प्रीति अथवा प्रमाद (भूल) से अरे
कृष्ण, हे यादव, ओ सखा इस प्रकार बराबरी के सम्बोधन जो

येन वापि ॥ ४१ ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार-
शय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये
त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥ पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् । त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः
कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥ तस्मा-
त्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्
॥ ४४ ॥ अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्य-
थितं मनो मे । तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश

कुछ भी मैंने कहे हों ॥ ४१ ॥ तथा घूमते फिरते सोते बैठे भोजन के समय एवं एकान्त में वा दूसरों के समक्ष वा हास्य-विनोद (हंसी-दिल्लगी) में जो कुछ भी मुझसे अपमान हुआ हो उसके लिए क्षमा चाहता हूँ ॥ ४२ ॥ आप इस चराचर सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं पूज्य हैं तथा गुरु के भी गुरु हैं तीनों लोक में आपकी बराबरी का कोई नहीं है पुनः हे अतुल प्रभाव! विशेष (आपसे अधिक) कहाँ से होगा ? ॥ ४३ ॥ आप सामर्थ्यवान हैं तथा स्तुती के योग्य हैं इस कारण मैं शिर नवाकर नमस्कार करता हुआ आपसे प्रार्थना करता हूँ आप प्रसन्न हो जाइये जैसे कि पिता पुत्र का मित्र मित्र का पति पत्नी का अपराध क्षमा कर देता है उसी तरह हे देव ! आपको मेरे सम्पूर्ण अपराध क्षमा करना योग्य है ॥ ४४ ॥ पहले कभी भी न देखे हुए आपके स्वरूप के दर्शन करके मुझको प्रसन्नता हुई तथा डर से मेरा मन घबड़ा गया है हे जगन्निवास ! हे देवाधि-देव! आप प्रसन्न हो जाइए एवं हे देव ! आप उस पहले ही स्वरूप के

जगन्निवास ॥४५॥ किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव । तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपं शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

चतुर्भुजी स्वरूप दिखाना

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोर-

दर्शन कराइए ॥४५॥ हे सहस्रबाहो ! मैं पूर्व के समान ही आप के किरीट, धारण करने वाले हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म (कमल) लिये हुए चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन करना चाहता हूँ सो हे विश्वमूर्ते ! आप दर्शन दीजिए।।४६।। श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मैंने तुझको प्रसन्न होकर ही यह तेजोमय, अनन्त और आद्य तथा परम विश्वरूप दिखाया है मेरा यह योग सामर्थ्य रूप यह तेरे सिवाय किसी ने नहीं देखा है ।।४७।। हे कुरु वंशियों में श्रेष्ठ वीर ! इस मनुष्य लोक में इस तरह का मेरा स्वरूप कोई भी व्यक्ति वेद से यज्ञ से,स्वाध्याय से, दान से, कर्म से, एवं उग्र तप से नहीं देख सकता जिसको कि तूने देखा है ।४८॥ मेरे इस घोर रूप को देखकर चित्त में भय से

मीदृङ्ममेदम् । व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४६ ॥

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः । आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन । इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

व्याकुल न हो मूढ़ (मूर्ख) भी मत बन डर को त्यागकर प्रसन्न चित्त से उसी स्वरूप को फिर देख ॥ ४६ ॥ संजय बोला— इस तरह कहकर वासुदेव भगवान् ने अर्जुन को अपना पहला चतुर्भुज स्वरूप दिखाया और फिर मनुष्य रूप से महात्मा ने डरे हुए अर्जुन को धैर्य धारण कराया ॥ ५० ॥ अर्जुन बोला— हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य तथा मनुष्य शरीर को अवलोकन करके मेरा मन अब ठिकाने आगया है और मैं पूर्व की तरह सावधान हूँ ॥ ५१ ॥ श्रीभगवान् बोले—जिस स्वरूप को तैंने देखा है उसका अवलोकन करना बहुत ही कठिन है मेरे इस स्वरूप को देखने के अर्थ देवता भी सदैव इच्छुक हैं ॥ ५२ ॥ मुझको वेद से, तप से, दान से एवं यज्ञ से भी नहीं

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं द्रष्टवानसि यन्मम । देवा अप्यस्य
रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥ नाहं वेदैर्न तपसा
न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं द्रष्टवानसि मां
यथा ॥ ५३ ॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधो-
ऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः । निर्वैरः सर्व-
भूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

देख सकता है जैसा कि तूने देखा है ॥ ५३ ॥ हे अर्जुन ! सिर्फ अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरा ज्ञान, एवं मेरा दर्शन हो सकता है तथा हे परन्तप ! मेरे में तत्व रूप से प्रवेश करना भी योग्य है ॥ ५४ ॥ हे पाण्डव ! जो पुरुष इस प्रकार की शुद्ध बुद्धि से करता हुआ सब कर्मों को मुझ परमेश्वर में अर्पण करता हुआ मत्परायण संग रहित सब से मित्र भाव से रहता है वह मेरा भक्त मुझमें लय होता है ॥ ५५ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत ग्यारहवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त हुई ।

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥ ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥ संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

अर्जुन बोला—इस प्रकार हमेशा युक्त अर्थात् (आपके स्वरूप में मन लगाकर) योग युक्त रहते हुए भक्त पुरुष जो आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षर अव्यक्त एवं ब्रह्म की उपासना करते हैं इन दोनों में उत्तम ज्ञानवान् कौन है ? ॥ १ ॥ श्रीभगवान् बोले—जो मुझ (परमात्मा) में मन लगाकर निरन्तर युक्त चित्त (सब के साथ प्रेम भाव से) होते हुए अत्यन्त श्रद्धा से मेरी उपासना (पूजा) करते हैं उनही पुरुषों को मैं युक्त अर्थात् उत्तम योगी मानता हूँ ॥ २ ॥ और अनिर्देश्य जो प्रत्यक्ष में न जाना जा सके अव्यक्त (इन्द्रियों से परे) सर्वव्यापी (सब जगह निवास करने वाले) अचिन्त्य (मन से भी न जाना जाय) कूटस्थ (सब के मूल में निवास करने वाले) अचल (कभी भी चलायमान न होने वाले) ध्रुव (निश्चय), नित्य, अक्षर एवं ब्रह्म की उपासना व सम्पूर्ण इन्द्रियों को निग्रह अर्थात् रोककर सब जगह समान बुद्धि से जो मेरा

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥ क्लेशो-
ऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गति-
र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि
संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपा-
सते ॥६॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात् । भवामि
न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥ मय्येव मन
आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत
ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि
मयि स्थिरम् । अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धन-

यजन करते हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण में निमग्न रहते हुए भी मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ३ । ४ ॥ परन्तु मनुष्यों के चित्त अव्यक्त में लगे रहने के कारण अधिक क्लेश का अनुभव करते हैं इस कारण देहाभिमानी पुरुषों को अव्यक्त उपासना का रास्ता कष्ट साध्य है ॥ ५ ॥ इसलिए जो अपने सम्पूर्ण कर्मों का मुझ परमात्मा में संन्यास (त्याग) करते हुए मुझमें ही परायण होते हुए निरन्तर योग से मेरा ध्यान कर मुझको ही स्मरण करते हैं ॥ ६ ॥ हे अर्जुन ! मुझ परमात्मा ही में चित्त को लगाने वालों को मैं इस मृत्यु युक्त संसार समुद्र से किसी प्रकार की भी देरी किये बिना पार कर देता हूँ ॥ ७ ॥ इसलिए मुझ परमात्मा ही में मन लगाकर मेरे ही स्वरूप में बुद्धि को स्थिर कर, इससे तू अवश्य ही मुझ परमात्मा में निवास करेगा ॥ ८ ॥ इस तरह मुझ आत्मा (परमात्मा) में अच्छी तरह चित्त को स्थिर न कर सके तो हे अर्जुन ! अभ्यास द्वारा अर्थात् बार-बार यत्न करके मुझ

ञ्जय ॥ ६ ॥ अभ्यासेऽप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥ अथै-
तदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं
ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागा-
च्छांतिरनंतरम् ॥१२॥ अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव
च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पित-

परमात्मा को प्राप्त कर लेने की चेष्टा कर ॥६॥ जो तू अभ्यास करने में भी असमर्थ हो गया है तब मेरे प्राप्त करने के लिए शास्त्र द्वारा बतलाए हुए मार्ग, ज्ञान, ध्यान, पूजा, भजन और पाठ आदि मेरे अर्पण करने से भी तू सिद्धि पा सकेगा ॥१०॥ और जो इन कर्मों के करने में भी तू असमर्थ है तब कर्म योग ही का सहारा लेकर अर्थात् शनैः शनैः चित्त वृत्ति को रोक कर प्रसन्नता पूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर॥११॥इसलिए कि अभ्यास से ज्ञान विशेष है और ज्ञान मे ध्यान अधिक है और ध्यान से कर्म के फल का त्याग अर्थात् संकल्प रहित कामना उत्तम है क्योंकि त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है ॥१२॥ जो पुरुष किसी से भी द्वेष (वैर) भाव नहीं करता तथा सब भूत (जीव मात्र) सें मित्र के समान व्यवहार कृपालु एवं सब में समान भाव रखता है अहंकार को त्याग कर सुख, दुःख में बराबर और क्षमा शील है ॥ १३ ॥ हमेशा सन्तुष्ट निरन्तर योग कर्म करने वाला दृढ़ विश्वास युक्त तथा जिस पुरुष ने अपने मन बुद्धि को मुझ परमात्मा में लगा रखा

मनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥ यस्मान्नो-
द्विजते लोकोलोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो
यः स च मे प्रियः ॥१५॥ अनपेक्षः शुचिदक्ष उदासीनो
गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः
॥ १६ ॥ यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्ण-
सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥ तुल्यनिंदा-

है वह मेरा समत्व अर्थात् कर्म योगी भक्त मुझको प्रिय है ॥१४॥ जिससे मनुष्यों को क्लेश नहीं होता न किसी मनुष्यों से क्लेश प्राप्त करता है इसी प्रकार हर्ष (खुशी) क्रोध (गुस्सा) भय (डर) से उद्वेग (चिन्ता) से अलग है वही पुरुष मुझको प्यारा है ॥ १५ ॥ मेरा भक्त वही मुझको प्रिय है जो अनपेक्ष (स्वावलम्बी) शुचि (पवित्र) दक्ष (कुशल) है अर्थात् सम्पूर्ण कार्यों को आलस्य रहित हो करता है तथा कर्म के फल की इच्छा न करने वाला और किसी प्रकार के विषय जिसको डिगा नहीं सकते कामना युक्त उद्योग जिसने त्याग दिये हैं वह मुझको प्यारा है ॥ १६ ॥ न तो आनन्द चाहता है न वैर करता है, न चिन्ता करता है न इच्छुक है जिस पुरुष ने अपने कर्म के अच्छे एवं बुरे फल त्याग दिए हैं सांई भक्त परमात्मा का प्यारा है ॥ १७ ॥ जिसको शत्रु तथा मित्र, मान (प्रतिष्ठा) व अपमान (बेइज्जत) सर्दी-गर्मी, सुख एवं दुःख बराबर हैं जो किसी से भी किसी प्रकार की आसक्ति (प्रीति) नहीं रखता ॥ १८ ॥ जिसको निन्दा (बुराई) स्तुति (प्रशंसा)

स्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमति-
र्भक्तिमान्मे प्रियोनरः ॥१६॥ ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं
पर्युपासते। श्रद्धाना मत्परमाभक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

दोनों समान हैं मितभाषी (मननशील) अर्थात् वृथा नहीं बोलता जो कुछ मिले उसी में सन्तुष्ट रहता है और जिसका चित्त चलायमान नहीं है जिसका कोई भी कर्म कामना युक्त नहीं है वही भक्तिमान पुरुष मुझको प्यारा है ॥ १६ ॥ यह जो कहे हुए अमृत के समान धर्म का मुझ परमात्मा में श्रद्धा युक्त होकर आचरण (बर्ताव) करते हैं वे भक्त मुझको अत्यन्त प्यारे हैं ॥ २० ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता बारहवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैवं क्षेत्रंक्षेत्रज्ञं मेव च । एतद्वेदितु-
मिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ यह क्षेपक है ।

अर्जुन बोला—हे केशव ! प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेय इनको जानना चाहता हूँ ।

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥ तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् । स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥ ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥ महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च । इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेंद्रिय-

---

श्रीभगवान् बोले—हे कौंतेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और जो यह जानता है उसको तत्ववेत्ता लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ १ ॥ हे भारत ! सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र के जानने वाला) भी मैं ही हूँ ऐसा जान क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जो अनुभव है वही मुझ परमात्मा का ज्ञान समझ ॥ २ ॥ क्षेत्र क्या पदार्थ है ? किस तरह का है ? उसके क्या-क्या विकार हैं ? उससे क्या-क्या होता है ? इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ जो कुछ भी है कौन है ? उसका महत्व क्या है ? वह मैं तुझको संक्षेप में सुनाता हूँ तू सुन ॥ ३ ॥ ब्रह्म सूत्र के पदों द्वारा यह कहा गया है जिनको अनेक प्रकार के छन्दों में बहुत प्रकार से अलग-अलग बहुत से ऋषियों ने युक्ति-युक्त कहकर पूर्ण रूप से निश्चित कर दिया है ॥ ४ ॥ महाभूत (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश) ५ अहंकार (मैं हूँ), बुद्धि (विचार शक्ति), अव्यक्त (कारण प्रकृति) दश इन्द्रियाँ और १ मन तथा पाँच

गोचराः ॥ ५ ॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः । एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥ अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥ असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ-

---

इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), विषय ॥ ५ ॥ इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना एवं मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ अर्थात् प्राण आदि के व्यापारों द्वारा ज्ञान होने वाली शरीर की चेतन व जीवित अवस्था धृति, धारण शक्ति (धैर्य) इन ३१ तत्वों के समूह को सविकार क्षेत्र कहते हैं ॥ ६ ॥ मान रहित, दम्भ (पाखंड) रहित, क्षमा (सहनता), सरलता (सीधापन), गुरु सेवा, पवित्रता, स्थिरता, दृढ़ता, मनोनिग्रह (मन का जीतना) ॥ ७ ॥ इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार (घमंड) का त्याग जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, व्याधि (बीमारी) तथा दुःखों को निरन्तर अपने साथ रहते हुए जानना ॥८॥ कर्त्तव्य कर्म में आलस्य न करना, बालक, पुत्र, स्त्री, घर आदि में आसक्ति (मोह) न करना, अपने प्रतिकूल की प्राप्ति में चित्त को सर्वदा समान रखना ॥ ९ ॥ मुझ परमात्मा में अनन्य रूप से दृढ़ भक्ति विविक्त (एकान्त स्थान) में निवास करना सर्व साधारण के समूह से पृथक् निरुपाधि देश

दर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥ सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणंगुणभोक्तृ च ॥१४॥ बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च । सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥ अविभक्तं च

में रहना ॥१०॥ अध्यात्म (आत्म) ज्ञान ही को नित्य जानना तत्व ज्ञान के अभिप्राय को देखते रहना इसको ही ज्ञान कहते हैं इससे भिन्न जो कुछ भी है वह सब अज्ञान है ॥ ११ ॥ आगे तुझको कहता हूँ जो ज्ञेय (आत्मा) अर्थात् जानने लायक है जिसके मालूम होने से "अमृत" एवं मोक्ष प्राप्त होता है वह (ज्ञेय) सब से अनादि और सम्पूर्णता से परे का "ब्रह्म" ही है उसको सत् व असत् नहीं कहते हैं ॥१२॥ उस ज्ञेय (आत्मा) के सब हाथ, पैर, सर्वत्र आँखें, सिर तथा मुँह हैं। और सब ओर कान हैं वही इस संसार में व्याप्त हो रहा है ॥ १३ ॥ उसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों का आभास वर्तमान है परन्तु इन्द्रिय कोई नहीं है वह सब (जीवमात्र) से पृथक् रहता हुआ भी सब का पालन करता रहता है तथा सब गुणों से निर्गुण होता हुआ भी गुणों का भोगने वाला है ॥१४॥ सम्पूर्ण भूतों (प्राणीमात्र) के बाहर भीतर तथा चर (चलायमान) अचर (नहीं चलने वाला) भी है अत्यन्त बारीक होने से नहीं जाना जाता है एवं दूर होते हुए भी पास ही है ॥१५॥ वह अविभक्त

भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः। मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १६ ॥ कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥ पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृति-

---

(जिसके हिस्से न हो सकें) होता हुआ भी सम्पूर्ण प्राणी मात्र में अनेक स्वरूप से बँट रहा है और जीव मात्र का पालन करता, ग्रसने वाला तथा पैदा करने वाला उसको ही समझना ॥ १६ ॥ ज्योति अर्थात् प्रकाश व तेज वालों का तेज अज्ञान रूप अन्धकार से दूर को कहते हैं ज्ञान तथा ज्ञेय से प्राप्त होने वाला तथा वही सब (जीवमात्र) के हृदय में निवास करता है ॥ १७ ॥ इस तरह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय यह संक्षेप से कहे हैं जो मेरा भक्त इनको जानकर मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ प्रकृति (माया) और पुरुष इन दोनों को ही अनादि जानना विकार तथा गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ समझ ॥ १६ ॥ कार्य अर्थात् देह के (महदादिक सात विकृति) एवं (दश इन्द्रियाँ मन बुद्धि अहंकार और चित्त यह चौदह) इनके कर्तापन में प्रकृति को कारण कहते हैं तथा कर्ता न होने पर भी सुख, दुःख को प्राप्त करने के लिए पुरुष (क्षेत्रज्ञ) कारण है ॥ २० ॥ इसलिए पुरुष प्रकृति में रहता

जान्गुणान् । कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु
॥ २१ ॥ उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः । पर-
मात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥ य एवं
वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । सर्वथा वर्तमानोऽपि
न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति
केचिदात्मानमात्मना । अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन
चापरे ॥ २४ ॥ अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपा-
सते । तेऽपिचातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥
यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-

हुआ भी प्रकृति से पैदा होने वाले गुणों को प्राप्त करता है और उसके गुणों का यह सम्बन्ध वा संयोग पुरुष के भली बुरी योनियों में शरीर धारण का कारण है ॥ २१ ॥ उपद्रष्टा (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण इन्द्रियों की आकृतियों का परीक्षा करने वाले) अनुमोदन (अनुमति राय) करने वाले भर्ता (स्वामी) भोक्ता (इन्द्रियों द्वारा तत्तद्विषय को भोगने वाले) को इस शरीर में महेश्वर परपुरुष तथा परमात्मा कहते हैं ॥ २२ ॥ जो इस तरह पुरुष तथा गुण युक्त प्रकृति को जानता है वह सब प्रकार से व्यवहार करता रहने पर भी फिर संसार में जन्म धारण नहीं करता है ॥ २३ ॥ कई लोग ध्यान से ही अपने शरीर में आत्मा-परमात्मा को देख लेते हैं कुछ सांख्य (तत्व विचार) से तथा कोई कर्म योग से ॥२४॥ इस प्रकार जिन पुरुषों को स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं होता है वे औरों से सुनकर ही परमेश्वर में भक्ति श्रद्धा से भजन करते हैं ऐसे पुरुष भी मृत्यु को जीत कर पार हो जाते हैं ॥ २५ ॥ हे

संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥ समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठंतं परमेश्वरम् । विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स
पश्यति ॥२७॥ समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परांगतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः । यः पश्यति
तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥ यदा भूतपृथ-
ग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म संप-
द्यते तदा ॥ ३० ॥ अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायम-

भरतश्रेष्ठ ! ध्यान से समझ स्थावर व जंगम कोई भी पदार्थ का पैदा होना क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का संयोग ही है ॥ २६ ॥ सम्पूर्ण सांसारिक भूतों (नाशवान् जीवों) में सर्वदा समान भाव से बसने वाला तथा जीवों का नाश होने पर भी जिसका विनाश नहीं होता ऐसे अविनाशी परमेश्वर एवं आत्मा को जिसने अवलोकन कर लिया है वही देखता है अर्थात् सच्चा ज्ञानी है ॥ २७ ॥ ईश्वर (आत्मा) को सब जगह समान भाव में स्थित जानकर वह मनुष्य अपने आत्मा का नाश नहीं करता इस कारण वह परमगति को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ जिसको यह ज्ञान हो गया कि सम्पूर्ण कर्म केवल प्रकृति से ही होते हैं तथा आत्मा अकर्ता एवं कुछ भी नहीं करता तब उसने सच्चे तत्व (आत्मा) को पहचाना है ॥२९॥ जो सम्पूर्ण भूतों (प्राणियों) के अलग-अलग भाव का एक ही भाव में स्थित देखता है और एक ही भाव से अनन्त प्रकार जगत् की भिन्नता एवं विस्तार को देखता है तब ही ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है॥३०॥ हे कौन्तेय ! अनादि तथा निर्गुण होता हुआ भी वह अव्यक्त

ऽव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो
देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥ यथा प्रकाशयत्येकः
कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाश-
यति भारत ॥ ३३ ॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

आत्मा-परमात्मा शरीर में रहता हुआ भी कुछ न करता और न बन्धन में पड़ता है ॥ ३१ ॥ जिस तरह आकाश सब तरफ होता हुआ भी सूक्ष्म होने से किसी का भी लेप (दोष) नहीं प्राप्त करता उसी प्रकार शरीर में आत्मा को सब जगह रहते हुए भी कोई लेप (दोष) नहीं होता ॥ ३२ ॥ हे भारत ! जिस तरह एक सूर्य सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है तद्वत (उसी तरह) क्षेत्री (आत्मा) सबरे क्षेत्र (शरीर अर्थात संसार) को प्रकाशित करना है ॥ ३३ ॥ जो पुरुष इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को और भूतों के समुदाय (मूल) प्रकृति के मोक्ष को ज्ञान दृष्टि द्वारा देखते हैं, वे ही परब्रह्म को प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता
तेरहवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोप-
जायंते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥ मम योनिर्महद्ब्रह्म
तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति
भारत ॥३॥ सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥ सत्त्वं
रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निवध्नन्ति महा-

श्रीभगवान् बोले—अनन्तर इसके सम्पूर्ण ज्ञानों से विशेष ज्ञान कहता हूँ जिसको मालूम करके सब मुनिजन उत्तम सिद्धि को प्राप्त हुए ॥ १ ॥ ज्ञान का सहारा प्राप्त करके मुझसे एक स्वरूप को लेकर मनुष्य जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है तब भी नहीं पैदा होते तथा प्रलय में कभी दुःख नहीं पाते एवं आवागमन से पृथक् हो जाते हैं ॥ २ ॥ हे भारत ! यह ब्रह्म अर्थात् यह प्रकृति मेरी ही योनि है मैं उसको गर्भ धारण कराता हूँ इसी के द्वारा सम्पूर्ण जीवमात्र पैदा होते हैं ॥ ३ ॥ हे कौन्तेय ! पशु, पक्षी आदि सम्पूर्ण योनियों में जो स्वरूप उत्पन्न होते हैं उन सब का कारण (योनि) महद्ब्रह्म है तथा मैं उन सब का बीज देने वाला पिता हूँ ॥ ४ ॥ हे महाबाहु ! प्रकृति से ही उत्पन्न हुए तीनों गुण अर्थात् सत्व, रज और तम शरीर में बसने वाले अव्यय (जो कभी नाश न होने वाला) निर्विकार

बाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वा-
त्प्रकाशकमनामयम् । सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन
चानघ ॥ ६ ॥ रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म संगेन देहिनम् ॥ ७ ॥ तम-
स्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्रा-
भिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥ सत्त्वं सुखे संजयति रजः
कर्मणि भारत । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत
॥ ९ ॥ रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः
सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥ १० ॥ सर्वद्वारेषु

आत्मा को शरीर में बांध देते हैं ॥ ५ ॥ हे निष्पाप अर्जुन ! तीनों गुणों में स्वच्छता के कारण प्रकाश युक्त दोष रहित सतोगुण, सुख तथा ज्ञान सहित जीवात्मा को बांध लेता है ॥ ६ ॥ हे कौन्तेय ! रजोगुण को प्रकृति रागात्मक समझ इससे ही तृष्णा तथा संग की पैदाइश होती है वही देहधारी जीवात्मा को कर्मों के बन्धन में बांध देता है ॥ ७ ॥ हे भारत ! तमोगुण अज्ञान से पैदा होकर मोह (भ्रम) में गेर देता है वह प्राणी (जीवात्मा) को प्रमाद (अज्ञान) आलस्य, निद्रा से बांध लेता है ॥ ८ ॥ हे भारत ! सत्वगुण (सतोगुण) सुख में तथा रजोगुण कर्म में प्रवृत्ति कराता है एवं तमोगुण ज्ञान को आच्छादन (ढाँक) कर प्रमाद (मूढ़ता) अर्थात् कर्म के विस्मरण में लगा देता है ॥ ९ ॥ हे भारत ! रजोगुण तथा तमो-गुण को आच्छादन करके ही सतोगुण की प्राधानता हुआ करती है तभी उसको सात्विक कहते हैं । इसी के अनुसार सतोगुण और तमोगुण को हराकर रजोगुण (राजसी प्रकृति) और

देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्वि-
वृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११ ॥ लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणा-
मशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि
जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥ यदा सत्वे प्रवृद्धे
तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकान् अमला-
न्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥ रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु
जायते। तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

सत्व तथा रजोगुण को दबाकर तामसी प्रकृति होती है ॥१०॥ शरीर के सम्पूर्ण द्वारों (दरवाजों तथा इन्द्रियों) में प्रकाश स्वरूप निर्मल ज्ञान प्रगट होता है तब जानना चाहिये सत्व (सतोगुण) की वृद्धि हुई है ॥११॥ हे भरत श्रेष्ठ ! जब लोभ, कर्मों में निरन्तर बढ़ता है तब नित्य नवीन मन की कल्पना होना तथा कर्म में असन्तोष एवं इच्छा का बढ़ना, यह रजोगुण की वृद्धि हुई ऐसा जानना ॥ १२ ॥ हे कुरुनन्दन ! तमोगुण की प्रधानता होने पर अंधेरा (अज्ञान) किञ्चिन्मात्र कर्म करने की भी इच्छा न होना प्रमाद (कर्त्तव्य विस्मृति) मोह (अज्ञान) होना यह तमोगुण अर्थात् तामसी प्रकृति के लक्षण जानना ॥ १३ ॥ सत्वगुण के वृद्धि काल में जीवात्मा शरीर को छोड़े तब उसको उत्तम तत्व जानने वाले निर्मल (स्वर्ग आदि) लोक प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥ रजोगुण की प्रधानता में जो-जो जीवात्मा शरीर त्याग करे तो कर्मों की इच्छा वाले मनुष्यों में जन्म धारण करता है और तमोगुण की वृद्धि काल में शरीर नाश होवे तो (पशु, पक्षी, वृक्ष, लता) मूढ़

कर्मणःसुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥ सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥ ऊर्ध्वं गच्छंति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥ १८ ॥ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १६ ॥ गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

योनियों में जन्म लेता है ॥१५॥ सुकृत अर्थात् सात्विक (पुण्य) कर्म का फल सात्विक, निर्मल सुख रूप है लेकिन राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान (अंधकार) ही है ॥ १६ ॥ सत्व से ज्ञान, रज से सिर्फ लोभ आदि और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं ॥ १७ ॥ सत्वगुण प्रधान ऊपर के स्वर्ग आदि लोकों में जाते हैं रजोगुण प्रधान लोग मध्य (बीच) में अर्थात् मनुष्य लोक में निकृष्ट गुण की वृत्ति वाले तामसी मनुष्य अधोगति एवं नीचे को जाते हैं ॥ १८ ॥ द्रष्टा पुरुष अर्थात् उदासीन वृत्ति को धारण करने वाला गुणों के अतिरिक्त कोई करने वाला नहीं है जब ऐसा जान लेता है तथा गुणों से परे तत्व जो आत्मा है उससे भिन्न कोई नहीं है तब वह मेरे स्वरूप में लय हो जाता है॥१६॥ शरीर को धारण कराने वाले पुरुष देह की उत्पत्ति के कारण तीन गुणों को अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से छूटकर अक्षय सुख रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥२०॥

अर्जुन उवाच —

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो । किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव । न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥ उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते । गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः । तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः

अर्जुन बोला—हे प्रभो ! ऐसे कौन स लक्षण हैं जिनके द्वारा जान लिया जाय कि अतीत (तीनों गुणों से रहित) पुरुष अर्थात् माया से परे है यह मुझको इतलाइये तथा वह इन तीनों (सत्व, रज, तम) गुणों से परे किस प्रकार होता है ? ॥२१॥ श्रीभगवान् बोले—हे पाण्डव ! प्रकाश (सतोगुण) प्रवृत्ति (रजोगुण) मोह (तमोगुण) इनके कार्य वा फल मिलने पर जो इनको अलहदा करने की इच्छा नहीं करता एवं न मिलने पर मिलने की इच्छा भी नहीं करता है ॥२२॥ जो पुरुष कर्म के फल प्राप्त होने में उदासीन वृत्ति धारण करता है तथा तीनों (सत्व, रज, तम) गुण जिसको डिगा नहीं सकते इस प्रकार जान कर स्थिर रहता है क्योंकि तीनों गुण अपना स्वाभाविक कार्य करते हैं वह विकार को प्राप्त नहीं होता है ॥ २३ ॥ जिसको सुख, दुःख बराबर हैं स्वस्थ (तन्दुरुस्त) है एवं अपनी आत्मा में ही स्थिर है मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण को बराबर जानता है इसी प्रकार प्रिय

॥ २४ ॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥ मां
च योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते। स गुणान्सम-
तीत्यैतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ २६ ॥ ब्रह्मणो हि
प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य
सुखस्यैकांतिकस्य च ॥ २७ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रय-
विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

(अच्छा) अप्रिय (बुरा) निन्दा (बुराई) और स्तुति (भलाई) जो इनको समान मानता है तथा सर्वदा धैर्य (धीरज) धारण करता है ॥ २४ ॥ जिसको मान (इज्जत) अपमान (बेइज्जती) एवं मित्र और शत्रु दोनों समान हैं (क्योंकि प्रकृति ही द्वारा सब होता है) जिसने सम्पूर्ण कामना परत्व कार्य त्याग दिए हैं उस पुरुष को ही गुणातीत कहते हैं ॥ २५ ॥ जो केवल मुझको ही अव्यभिचार अर्थात् अनन्य भाव से मेरी (आत्मा की) ही उपासना व सेवा करता है वही पुरुष इन तीनों (सत्व, रज, तम) गुणों से पार होकर ब्रह्म अर्थात् परमात्म स्वरूप हो जाता है ॥ २६ ॥ इसलिए अमृत (जन्म रहित जिसका कभी नाश न हो) तथा अव्यय (व्यय रहित जो घटे बढ़े नहीं जिसमें कोई विकार न हो) ब्रह्म (आत्मा रूप) का शाश्वत (नित्य) धर्म का एवं एकान्तिक (सर्व व्यापक) अत्यन्त आनन्द का सब से उत्तम स्थान मैं ही हूँ ॥ २७ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता
चौदहवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥ अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुण प्रवृद्धा विषयप्रवालाः । अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेन दृढेन छित्त्वा ॥३॥

श्रीभगवान् बोले—ऊपर को जड़ एवं नीचे की ओर सब शाखा हैं ऐसे अश्वत्थ (पीपल वृक्ष) अर्थात् (संसार वृक्ष) को अव्यय जिसका कभी नाश न हो और वेद के सम्पूर्ण मन्त्र उसके पत्ते हैं जिसने इसको मालूम कर लिया वही पुरुष सच्चा वेद का जानकार है ॥ १ ॥ इस पीपल (संसार) वृक्ष की शाखाएँ (सत्व, रज, तम) आदि गुणों से बढ़ कर नीचे ऊपर फैल रही हैं इनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध आदि विषयों के अंकुर प्रगट हो रहे हैं तथा उसकी जड़ें मनुष्य लोक में नीचे बढ़ कर गहरी हो गई हैं ॥ २ ॥ जो कि न तो इस (संसार) में (और जो पीछे कह आये हैं) उस प्रकार का उसका स्वरूप नहीं मिलता तथा अन्त और आदि अपितु आधार (स्थिति) स्थान का भी पता नहीं प्राप्त होता, इस अत्यन्त गहरी जड़ युक्त अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष को असंग (अनासक्त) रूप दृढ़ (मजबूत) तलवार से काट देना ॥ ३ ॥ तदनन्तर उस जगह को प्राप्त कर लेना

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥ निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥ न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥ शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धा-

---

कि जहाँ से जाकर पुनः लौटना नहीं तथा यह विचार (संकल्प) करना कि पुरानी प्रवृत्ति जिसके द्वारा पैदा हुई है उसी आदि पुरुष की ओर मैं जाता हूँ ॥ ४ ॥ जिन पुरुषों ने मान और मोह को त्याग दिया है, संग दोष (आसक्ति) को जीत लिया है और अध्यात्म (योग मार्ग) में हमेशा स्थित हैं तथा सकाम और निष्काम एवं सुख दुःख दोनों से पृथक् हैं वे ही ज्ञानी उस अव्यय (जिसका कभी नाश, न हो) स्थान को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५ ॥ जिसको प्राप्त करके नहीं लौटते वह मेरा उत्तम स्थान है उसका सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि भी प्रकाशित नहीं करते हैं ॥ ६ ॥ जीव लोक (कर्म भूमि, संसार) में जीव स्वरूप मेरा ही सनातन अंश प्रकृति (स्वभाव) में निरन्तर रहने वाली मन युक्त छह एवं मन और ५ सूक्ष्म इन्द्रियों को अपनी तरफ आकर्षण कर लेता है (यही लिंग शरीर है) ॥ ७ ॥ ईश्वर अर्थात् जीव जब स्थूल शरीर को प्राप्त कर लेता है तथा जब स्थूल शरीर को त्याग कर देता है

निवाशयात् ॥ ८ ॥ श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राण-
मेव च । अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा
नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥ यतन्तो योगि-
नश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् । यतंतोऽप्यकृतात्मानो
नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥ ११ ॥ यदादित्यगतं तेजो जग-
द्भासयतेऽखिलम् । यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धि माम-
कम् ॥१२॥ गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

तब यह जीव (ईश्वर) इन (मन तथा पाँच इन्द्रियों को) उसी प्रकार साथ ले जाता है जिस प्रकार पुष्प की सुगन्धि को हवा ले जाती है ॥८॥ कान, आँख, त्वचा, जीभ, नासिका तथा मन में रह कर यह जीव (ईश्वर) विषयों को भोगता है ॥ ९ ॥ शरीर त्याग कर चले जाने (जीव) को एवं गुणों से युक्त रहने (उपभोग करने) वाले (जीव) को मूर्ख नहीं जान सकते हैं ॥१०॥ और इस प्रकार प्रयत्नशील योगीजन अपने शरीर में स्थित आत्मा को पहचानते हैं; लेकिन वह अज्ञ (मूर्ख) मनुष्य जिनका आत्मा (बुद्धि) शुद्ध नहीं है यत्न-शील होने पर भी उसको नहीं पहचान पाते ॥११॥ सूर्य जिस तेज से सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है वह तथा चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है वह तेज मेरा ही है ऐसा जानो॥१२॥ इसी तरह पृथ्वी में प्रविष्ट होकर मैं ही सम्पूर्ण भूत (प्राणियों) को निज तेज (प्रकाश) से धारण करके रसात्मक सोम (चन्द्रमा) स्वरूप से सब ओषधियों अर्थात् वनस्पतियों को

पुष्णामिचौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥ अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥ सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि-कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

पोषण करता हूँ ॥ १३ ॥ मैं अग्नि वैश्वानर स्वरूप होकर जीव धारियों के शरीर में रहता हूँ, प्राण और अपान करके चार प्रकार के (भक्ष्य. चोष्य, लेह्य, पेय) अन्न को पचाता हूँ ॥ १४ ॥ इसी तरह मैं सब के अन्तःकरण में रहता हुआ स्मृति (याद) ज्ञान (होश) अपोहन एवं उनका नाश मेरे द्वारा ही होता है और सब वेदों के द्वारा जानने लायक मैं ही हूँ। एवं वेदान्त को रचने वाला तथा जानने वाला भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥ संसार में "क्षर" और "अक्षर" दो पुरुष हैं, सम्पूर्ण (नाश होने वाले) भूतों को 'क्षर' कहा करते हैं तथा कूटस्थ को एवं इस सम्पूर्ण भूतों के मूल (कूट) में निवास करने वाले (प्रकृति स्वरूप अव्यक्त तत्व) को 'अक्षर' कहा करते हैं ॥ १६ ॥ लेकिन यह उत्तम पुरुष इन दोनों से पृथक् है वही परमात्मा है वही अव्यय, ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके सब का पोषण करता है ॥ १७ ॥ मैं क्षर से परे और

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥
यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति
मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥ इति गुह्यतमं शास्त्रमिद-
मुक्तं मयानघ। एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च
भारत ॥ २० ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषो-त्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) हूँ लोक (सांसारिक व्यवहार) और वेद में भी मुझको ही पुरुषोत्तम कहते हैं ॥ १८ ॥ हे भारत ! (अर्जुन) इस तरह जो पुरुष मुझको ही बिना मोह के पुरुषोत्तम जानता है, वही पुरुष सब को जानने वाला सब प्रकार से मुझको भजता है। हे निष्पाप भारत ! यह अत्यन्त छिपा हुआ शास्त्र मैंने तुझको बताया इसको जान कर बुद्धि-मान् कृत कृत्य हो जाता है ॥१९॥

आगरा निवासी घनश्याम 'गोस्वामी कृत गीता पन्द्रहवें अध्याय का भाषा टीका समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥ तेजः क्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नाति-

---

श्रीभगवान् बोले—अभय (डर से रहित) शुद्ध सात्विक स्वभाव, अर्थात् अन्तःकरण को राग, द्वेषादि मलिनता से अलग रखना, ज्ञान-योग-व्यवस्थिति एवं बुद्धि को सब में समान ज्ञान युक्त समान भाव में रखना, दान (सात्विक दान) दम (इन्द्रियों का दमन) यज्ञ (सात्विक यज्ञ करना) स्वाध्याय (विद्या पढ़ना) तप (सात्विक भाव से मन वाणी द्वारा शिष्टाचार से करना) आर्जव (सरलता) ॥ १ ॥ अहिंसा (मन, वाणी एवं शरीर से किसी को कोई तकलीफ़ न देना) सत्य (सच का व्यवहार करना) अक्रोध (क्रोध का त्याग अर्थात् कभी क्रोध न करना) त्याग (सकाम कार्य न करना एवं संकल्प युक्त कार्य काम को न करना) शान्ति (मन में धीरज रखना) अपैशून्य (किसी की चुगली व बुराई न करना) दया (सब में प्रेम भाव रखना) लोभ न करना, सब से मधुरता व्यवहार करना, खोटे कर्मों में लाज अर्थात् लज्जा रखना, अचपलता बेकार बातों का त्याग ॥ २ ॥ तेज (प्रभाव शाली होना), क्षमा दूसरे के अपराधों को भूल जाना, धृति (सात्विक धैर्य धारण करना) शौच (शरीर को पवित्र रखना) अद्रोह (किसी भी व्यक्ति विशेष से वैर न

मानिता। भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं
चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥ दैवी संपद्वि-
मोक्षाय निबंधायासुरी मता। मा शुचः संपदं दैवीमभि-
जातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥ द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव
आसुर एव च। दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे
शृणु ॥ ६ ॥ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।

करना) हे अर्जुन ! ये लक्षण दैवी सम्पत्ति में पैदा होने वाले के होते हैं ॥ ३ ॥ हे पार्थ ! दम्भ (पाखंड दिखाकर धोखा देना) दर्प (अर्थात् धन, मान, ताक़त, जवानी, कुलीनता, पांडित्यता, पवित्रता आदि घमंड से दूसरों का तिरस्कार करना) अभिमान (अपने को बड़प्पन, श्रेष्ठता, उच्चपना, कुलीनता आदि से अहंकार करना बुद्धिमानी का अहंकार, धन, अच्छी नौकरी, इज्जत, धार्मिकता आदि का घमंड करना) क्रोध (जो कोई अच्छी, बुरी बात कही का उपहास करे) उससे नाराज़ होना) पारुष्य (निष्ठुर, कठोरता करना) अज्ञान (झूँठ सच को समान जानना) यह लक्षण आसुरी सम्पत्ति में जन्म वाले के होते हैं ॥ ४ ॥ इन दोनों में दैवी सम्पत्ति (अन्त में) मोक्ष देने वाली और आसुरी बंधन में गेरने वाली कही गई है (इसलिए हे अर्जुन ! तू दैवी सम्पत्ति में पैदा हुआ है अतएव शोक मत कर ॥ ५ ॥ इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य हुआ करते हैं—एक दैवी स्वभाव वाले तथा दूसरे आसुरी (राक्षसी) वृत्ति वाले इनमें दवी स्वभाव वालों का वर्णन विस्तार से पूर्व में कर दिया है अब आसुरी वृत्ति वालों का वृत्तान्त सुन ॥ ६ ॥ आसुरी (राक्षसी,

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् । अपरस्परसंभूतं
किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥ एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टा-
त्मानोऽल्पबुद्धयः । प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतो-
ऽहिताः ॥९॥ काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥
चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः । कामोपभोगपरमा

नास्तिकता) स्वभाव के मनुष्य यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या और निवृत्ति क्या हैं अर्थात् वे लोग नहीं जानते कि हमको क्या करना है और क्या नहीं । उन लोगों में आचार, शुद्धता व सत्य नहीं रहता है ॥ ७ ॥ आसुरी प्रकृति के मनुष्य कहा करते हैं कि सम्पूर्ण जगत् (संसार) झूँठा और निरा-धार है परमेश्वर से रहित है स्त्री-पुरुष के संयोग द्वारा ही इसकी उत्पत्ति है इसके सिवाय दूसरा कारण ही क्या है ॥८॥ इस तरह की दृष्टि को स्वीकार करके वे तुच्छ बुद्धि वाले नष्ट आत्मा दूसरों का अहित करने वाले अज्ञानी संसार का नाश करने ही को उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥ कभी समाप्त न होने वाले विषय सम्बन्धी उपभोगों का आश्रय (सहारा) करके (नास्तिक लोग) अज्ञान (मूढ़ता) से दम्भ (पाखंड) मान (अहंकार) तथा मद में मस्त होकर मोह के लिये मन मानी बातें रच कर अशुद्ध कार्य करने के लिये तय्यार रहते हैं ॥ १० ॥ इस प्रकार जब तक शरीर है सुख भोगने के साधन में असंख्य चिन्ताओं में ग्रसे रहने पर भी कामोपभोग में निश्चय हुवे

एतावदिति निश्चिताः ॥११॥ आशापाशशतैर्बद्धाः काम-
क्रोध परायणाः। ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्
॥ १२ ॥ इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥ असौ
मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी
सिद्धोहं बलवान्सुखी ॥१४॥ आढ्योऽभिजनवानस्मिको-
ऽन्योऽस्तिसदृशो मया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्य-
ज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रांता मोहजाल-
समावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ

हुए भी उन्हीं कामोपभोगों को अपना सर्वस्व मानते हैं ॥११॥
विषय भोग की एक के बाद दूसरी इसी प्रकार सैकड़ों आशा
रूप फांसियों में मजबूत बंधन से बंधे हुए काम, क्रोध (विषय-
भोग) की इच्छा से (आसुरी लोग) अन्याय से बहुत द्रव्य
को संचित करने के लिये तृष्णा करते रहते हैं ॥ १२ ॥ आज
मैंने यह मनोरथ सिद्ध कर लिया तथा कल यह भी इच्छा के
अनुकूल मिल जायगा यह धन मेरे पास है फिर वह भी मेरा
ही हो जायगा। १३ ॥ इस शत्रु को मैंने मार दिया और इसी
प्रकार औरों को भी मार दूँगा मैं ईश्वर हूँ मैं ही संसार के
सुखों का भोगने वाला सिद्ध बलवान् और सुखी हूँ ॥ १४ ॥
मैं बहुत बड़ा धनवान् हूँ एवं कुलीन हूँ मेरे बराबर दूसरा
कौन ? मैं यज्ञ करूँगा दान दूँगा आमोद-प्रमोद (नाटक,
सिनमा) करूँगा इस तरह अज्ञान रूप कूप में फंसकर ।१५॥
अनेक तरह की मन की कल्पनाओं से विषय भोग में आसक्त
(आसुरी प्रकृति के मनुष्य) अपवित्र (रौरव) आदि नरक

॥१६॥ आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥ अहंकारं
बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः। मामात्मपरदेहेषु प्रद्वि-
षन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसा-
रेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु
॥ १९ ॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमांगतिम् ॥ २० ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोध-

में प्रवेश करते हैं ॥ १६ ॥ अपने बड़प्पन के झूँठे घमंड में, ऐंठ कर बात करने वाले, धन और इज्जत के नशे में चूर यह (आसुरी लोग) पाखंड से शास्त्र की कही हुई बात को त्यागकर केवल नाम के वास्ते दिखाने को ही यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥ अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध से भरे हुए दूसरों में दोष देखने वाले अपने और दूसरों के शरीरों में रहने वाले जो मेरा (परमेश्वर को) वैर करने वाले निंदक ॥ १८ ॥ तथा खोटे कर्म करने वाले द्वेषी, क्रूर तथा अधम मनुष्यों को मैं संसार की अधम योनियों (नरकों) में ही सर्वदा गेरता रहता हूँ ॥ १९ ॥ हे अर्जुन ! बार-बार आसुरी योनियों में ही रहते हुए ये अज्ञानी (मूर्ख) मनुष्य मुझको बिना प्राप्त किये ही अन्त में बहुत ही घोर अधोगति को जा पहुँचते हैं ॥ २० ॥ काम, क्रोध तथा लोभ ये ही तीन तरह के (बुद्धि को नाश करके) नरक में जाने के रास्ते हैं ये ही हमारा (आत्मा का) नाश करते हैं) इस कारण इन तीनों

स्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥ एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः । आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

हरि ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे देवासुरसंपद्विभाग-योगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

को ही त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥ हे अर्जुन ! इन तीन तमो द्वारों (काम, क्रोध, लोभ) से पृथक् होकर मनुष्य (कल्याण को) व्यवहार करता है वही उत्तम गति को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ जो पुरुष शास्त्र में कही हुई विधि (रास्ते को) त्याग कर मन मानी करता है उसको न तो सिद्धि मिलती है न सुख तथा गति भी उत्तम नहीं मिलती ॥ २३ ॥ इस कारण कौन कार्य करना चाहिये इसके लिये तुझको शास्त्रों का प्रमाण मानना पड़ेगा तथा शास्त्रों में जो कुछ भी कहा है उसको समझ कर उसके अनुकूल ही इस लोक में तुझको कर्म करना चाहिये ॥ २४ ॥

आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता सोलहवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त ।

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं
पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥ यजंते सात्विका
देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते

अर्जुन बोला—हे कृष्ण! शास्त्र में कही हुई विधि को त्याग कर श्रद्धा के साथ पूजन भजन करते हैं उनकी निष्ठा मन की स्थिति (सात्विकी, राजसी, तामसी) इनमें से कौनसी है? ॥ १ ॥ श्रीभगवान् बोले—सम्पूर्ण प्राणी मात्र की श्रद्धा (निष्ठा) स्वभाव से ही तीन तरह की होती है पहली सात्विक, दूसरी राजस और तीसरी तामस आगे उनका वर्णन सुन॥२॥ हे भारत! सब की श्रद्धा अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अर्थात् प्रकृति के अनुकूल होती है हर एक व्यक्ति श्रद्धा युक्त है। जिस प्राणी की जिस तरह की श्रद्धा रहती है वह वैसा ही बनेगा ॥ ३ ॥ जो मनुष्य सात्विक (सतोगुणी) हैं एवं जिन पुरुषों का स्वभाव सत्वगुण विशेष है वे सब देवताओं का यजन (पूजन) करते हैं राजस रजोगुण युक्त मनुष्य यक्ष तथा राक्षसों की सेवा करते हैं तथा और जो इन दोनों से

तामसा जनाः ॥ ४ ॥ अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः । दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥ कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधा भवति प्रियः । यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥ आयुः सत्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥८॥ कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहारा राज-

---

पृथक् तामस तमोगुण प्रधान पुरुष हैं वे प्रेत और भूतों की सेवा करते हैं ॥४॥ लेकिन जो पुरुष दम्भ (पाखंड) एवं अहंकार (घमंड) में तत्पर होकर काम और आसक्ति के भरोसे पर शास्त्र विधि को त्याग कर घोर तप करते हैं ॥ ५ ॥ इसी प्रकार जो पुरुष केवल निज शरीर के ही पंच महाभूतों को नहीं किन्तु शरीर में निवास करने वाले मुझ (परमेश्वर) को भी कष्ट देते हैं उन लोगों को ज्ञान शून्य (अविवेकी) और आसुरी बुद्धि जानना ॥ ६ ॥ हर एक मनुष्य की इच्छा का आहार भी तीन तरह का है एवं यही सब विचार यज्ञ, तप और दान का है सो सुनो मैं उन सब का भेद बताता हूँ ॥ ७ ॥ आयु (उम्र) सात्विक वृत्ति (सतोगुण) बल (ताक़त) आरोग्य (तन्दुरुस्ती) सुख एवं प्रीति को बढ़ाने वाले रस युक्त चिकने शरीर में प्रवेश करके बहुत समय तक ठहरने वाले तथा मन को प्रसंन्न करने वाले आहार (खाद्य पदार्थ सा त्विकी पुरुषों को प्यारे होते हैं ॥ ८ ॥ कड़ुए (चर परे), खट्टे, खारे अत्यन्त गरम, तीखे, रूखे, जलन पैदा करने वाले एवं दुःख

सस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥ यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥ अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते । यष्टव्यमेवेति मनःसमाधाय स सात्त्विकः ॥११॥ अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् । इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥ विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् । श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥ देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥ अनु-

---

शोक तथा रोग पैदा करने वाले भोजन राजसी प्रकृति वालों को प्यारे होते हैं ॥९॥ कुछ समय पहले का बना हुआ भोजन पदार्थ ठण्डा, गत रस (नीरस),दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा एवं पवित्रता से रहित भोजन तामसी मनुष्य को प्यारा होता है ॥१०॥ संकल्प सिद्धि अर्थात् फल की आशा को त्यागकर अपना कर्त्तव्य जानते हुए शास्त्रों की आज्ञा के मुताबिक शान्त-चित्त से जो यज्ञादिक किए जाते हैं वह सात्विक (यज्ञ) हैं ॥११॥ हे भरत श्रेष्ठ ! (अर्जुन) उस यज्ञ को तू रजोगुण जान जिसमें किसी फल की आशा से अर्थात् कामना युक्त पाखण्ड के लिये एवं ऐश्वर्य (चमत्कार) दिखाने को जो क्रिया जाता है ॥१२॥ जो शास्त्रों में कही हुई विधि के प्रतिकूल, अन्नदान से रहित एवं विना मंत्र और विना दक्षिणा के तथा श्रद्धा रहित शून्य यज्ञ तामसी संज्ञा के होते हैं यही तामस यज्ञ कहलाता है ॥१३॥ देवता, ब्राह्मण गुरू, तथा विद्वान् मनुष्यों की पूजा पवित्रता, साधारणता, ब्रह्मचर्य, एवं अहिंसा (किसी जीवमात्र को न मारना) इसको

द्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् । स्वाध्यायाभ्य-
सनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥ मनः प्रसादः
सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो
मानसमुच्यते ॥१६॥ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं
नरैः । अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् । क्रियते तदिह
प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥ मूढग्राहेणात्मनो
यत्पीडया क्रियते तपः । परस्योत्सादनार्थं वा तत्ताम-
समुदाहृतम् ॥ १६ ॥ दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुप-

शरीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं ॥१४॥ मनको चंचल न करने वाला सत्य, प्रिय, एवं कल्याणकारी वार्तालाप को ऐसे ही स्वाध्याय अर्थात अपने कर्म को निरंतर करते रहना इसको वाचिक (वाङ्मय) तप कहते हैं ॥१५॥ अपने मन को प्रसन्न रखना,सौम्यता (सीधापना)एवं मौनता एवं मुनिजनों की सी वृति अर्थात् विशेष न बोलना हर एक जन को वशीभूत और पवित्र भावना रखना इसी को मानस तप कहते हैं ॥१६॥ इन तीनों प्रकार के तपों को जो मनुष्य फल की इच्छा न करता हुआ अच्छी तरह श्रद्धा से योग युक्त बुद्धि से करे तो सब सात्विक कहाते हैं ॥१७॥ तप अपनी प्रतिष्ठा (सत्कार) मान (इज्जत) अथवा पूजा के निमित्त वा पाखण्ड से किया जाता है वह चंचल तथा अस्थिर तप शास्त्रों में राजस कहाता है वह चंचल तथा अस्थिर तप शास्त्रों में राजस कहाता है ॥१८॥ मूढ़ (मूर्खता) आग्रह (खुशामद) से अपने आप तकलीफ उठाकर एवं (जारण आदि कर्मों के द्वारा) एवं मारण दूसरों को सताने के निमित्त से

कारिणे । देशे काले च *पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टंतद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥ ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण-स्त्रिविधःस्मृतः । ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः । प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

जो तप किया जाता है उसको तामस कहते हैं॥१६॥ सात्विक दान उसको कहते हैं जो कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाता है अर्थात् देश काल एवं पात्र का विचार करके किया जाता है तथा जो अपने ऊपर प्रत्युपकार (बदला) न करने वाले को दिया जाता है ॥२०॥ लेकिन किये हुए उपकार के बदले में या किसी प्रकार के फल की आशा में एवं अत्यन्त कठिनाई से जो दान किया जाता है वह राजस है ॥२१॥ और तामस दान वह कहलाता है जो अनुचित स्थान मे अयोग्य काल में तथा अपात्र मनुष्य को सत्कार रहित अथवा अवहेलना युक्त जो दान किया जाता है ॥२२॥ ॐ तत् सत् यह तीन तरह स ही ब्रह्म का निर्देश शास्त्र में कहा गया है इसी के द्वारा पूर्वकाल में ब्राह्मणों वेदों और यज्ञों की व्यवस्था-करी गई है ॥२३॥ इस कारण (तस्मात्) एवं जगत् का प्रारम्भ इसी संकल्प से हुआ है अथात् ब्रह्मवादी (विद्वान्) पुरुषों के सम्पूर्ण यज्ञ, दान, तप एवं अन्य सब शास्त्रोक्त कर्म उच्चारण के

---

* टि०—पात्रं वेदमयंकिंचित्किंचित्पात्रं तपोमयम् ।
पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्यनोदरे ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः । दानक्रियाश्च
विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥ सद्भावे साधु-
भावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा
सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥ यज्ञे तपसि दाने च
स्थितिः सदिति चोच्यते । कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवा-
भिधीयते ॥ २७ ॥ अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च
यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रय
विभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

साथ होते हैं ॥२४॥ तत् शब्द को उच्चारण करते हुए फल की इच्छा न रखकर मोक्षार्थी (मोक्ष को चाहने वाले) मनुष्य यज्ञ, दान, तप, आदि बहुत तरह की साधना करते रहते हैं ॥२५॥ सत् भाव (श्रेष्ठ भाव) एवं भलाई में सत् शब्द का व्यवहार होता है इसलिए हे पार्थ ! (अर्जुन) इसी प्रकार उत्तम कर्मों के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग होता है ॥२६॥ यज्ञ, तप, तथा दान में स्थिर भावना रखने को भी सत् कहते हैं एवं इन यज्ञ आदिकों के निमित्त भी जो कर्म करना है उसका नाम भी सत् है ॥२७॥ श्रद्धाहीन होकर जो हवन करता है, दान देता है, तप करता है, अथवा अन्य कोई कर्म करता है वह सब असत है अर्थात् वह असत् कहाता है 'हे अर्जुन वह' कर्म करने पर परलोक और इस लोक में भी हितकारी नहीं होता ॥२८॥

इति आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत गीता
अध्याय सत्रहवें की भाषा टीका समाप्त ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥ त्याज्यं
दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदानतपःकर्म न
त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥ निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे
भरतसत्तम । त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकी-

अर्जुन बोला—हे महाबाहु (लम्बी भुजा वाले) हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी) ! केशिनिसूदन (हे केशि राक्षस को मारने वाले) ! अब मैं संन्यास और त्याग का तत्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥ श्री भगवान् बोले—ज्ञानी जन कहते हैं कि जितने भी कार्य कर्म (संकल्पयुक्त) हैं उन सब के फल की इच्छा को छोड़ना ही संन्यास है क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग ही को पण्डित लोग भी त्याग कहते हैं ॥ २ ॥ कोई विचारशील पुरुष कहते हैं कि कर्म दोषयुक्त है उसका हमेशा त्याग करना उचित है और अन्य ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, और तप; और कर्म इनका त्याग कभी न करना ॥ ३ ॥ इस कारण हे भरतश्रेष्ठ ! संन्यास (त्याग) के लिये मैंने जो निश्चय किया है उसको सुन--हे पुरुषों में उत्तम ! यह त्याग तीन प्रकार का

र्तितः ॥ ४ ॥ यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥ एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥ दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्। स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥ कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥ ९ ॥ न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानु-

---

है ॥४॥ यज्ञ, तप, दान, और कर्म का त्याग न करना इनको तो अवश्य ही करना। यज्ञ, दान, तप, यह सब विवेकी मनुष्यों को पवित्रकारक तथा चित्त की शुद्धि का हेतु है ॥ ५ ॥ इसलिये इन यज्ञ दान आदि कर्मों को इच्छा रहित होकर इनके फल की इच्छा न रखते हुए दूसरे निष्काम कर्मों के बराबर करते रहना हे पार्थ! यह ही मेरा उत्तम सिद्धान्त है ॥६॥ जो कर्म अपने धर्म के लिए स्थिर कर दिये हैं उनका त्याग करना उचित नहीं है मोह से इनका त्याग करना तामस कहाता है ॥ ७ ॥ शरीर को तकलीफ़ होने के भय से जो कर्म छोड़ दिया जाता है तो उसको राजस कहते हैं, उस त्याग कर्म का फल उस व्यक्ति को नहीं प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ हे अर्जुन! अपने ही धर्म के अनुसार नियत कर्म एवं अपना कर्तव्य समझ कर तथा उस कर्म के फल मिलने की आशा को त्यागकर जो कर्म किया जाता है उसको सात्विक त्याग कहते हैं ॥ ९ ॥ जो बुद्धिमान् पुरुष संशय को

पज्जते । त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्म-
फलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥ अनिष्टमिष्टं
मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य
न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥ पंचैतानि महाबाहो
कारणानि निबोध मे । सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये
सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥ अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च
पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंच-

त्यागकर सतोगुणशील त्यागी व्यक्ति नवमें श्लोक में कथित सात्विक त्याग करने वाला पुरुष की अकुशल (अकुलाकर) अर्थात् दोषयुक्त एवं बुराई सहित माने हुए कर्म को नहीं त्यागता वह त्यागी अर्थात् संन्यासी है ॥ १० ॥ जो देह धारी पुरुष हैं उससे कर्मों का एक दम त्याग होना असम्भव है इसलिए जिस व्यक्ति ने कर्म को न छोड़कर सिर्फ उसके फलों को ही त्याग दिया है वही सच्चा त्यागी एवं सन्यासी है ॥ ११ ॥ मृत्यु के बाद अत्यागी व्यक्ति एवं कर्म के फल की आशा को नहीं छोड़ने वाले को तीन तरह के फल प्राप्त हुआ करते हैं अनिष्ट, इष्ट तथा (दोनों को मिलाकर) मिश्र लेकिन संन्यासी जिसने कर्म के फल की आशा छोड़ दी है ऐसे संन्यासी को यह फल नहीं प्राप्त होते और न बाधा देते हैं ॥ १२ ॥ हे महाबाहु ! सब प्रकार के कर्मों की प्राप्ति के अर्थ सांख्य सिद्धान्त वालों ने पाँच प्रकार के रास्ते बताये हैं उनको मैं तुमसे कहता हूँ सुन ॥ १३ ॥ अधिष्ठान (स्थान विशेष), और कर्ता (कर्म करने वाला) पृथक्-पृथक कारण अर्थात् साधन एवं कर्ता की अनेक तरह की अलग-अलग

मम् ॥ १४ ॥ शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ ११ ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मनं केवलं तु यः। पश्यत्यकृत-
बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥ यस्य नाहंकृतो
भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान्न
हंति न निबद्धयते ॥ १७ ॥ ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा
कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म संग्रहः
॥ १८ ॥ ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुण भेदतः।

चेष्ठाएँ तथा उनके व्यापार और पाँचवाँ कारण दैव है ॥ १४ ॥ शरीर, वाणी, एवं मन के द्वारा जो-जो कर्म करता है वह न्याय होगा अन्याय उसके पहले कहे हुए पाँच कारण हैं ॥ १५ ॥ यथार्थ में इस प्रकार स्थिति होने पर भी संस्कृत (शुद्ध) बुद्धि न होने पर यह जाने कि मैं स्वयं ही (अकेला ही) कर्ता हूँ तब जानना चाहिए कि वह कुबुद्धि कुछ भी नहीं जानता है ॥ १६ ॥ जिस व्यक्ति को यह विचार ही नहीं है कि मैं "कर्ता" हूँ एवं जिस व्यक्ति की बुद्धि अलिप्त है वह यदि इन मनुष्यों को मार भी दे तो जानना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न कर्म ही उसको बन्धन में गेरता है ॥ १७ ॥ ज्ञान, ज्ञेय, तथा ज्ञाता इन भेदों से कर्मचोदना तीन प्रकार का है और इसी तरह करण, कर्म तथा कर्त्ता इन भेदों से कर्म संग्रह भी तीन प्रकार का है ॥१८॥ कर्म चोदना और कर्म संग्रह यह पारिभाषिक शब्द हैं गुण संख्यान शास्त्र अर्थात् कपिलदेव ऋषि प्रोक्त सांख्य शास्त्र में लिखा है ज्ञान, कर्म, तथा कर्ता यह प्रत्येक (सत्व, रज, तथा तम) भूत भेदों द्वारा तीन भाँति के हैं उन

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्ते-
षु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥ पृथक्त्वेन तु
यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥ यत्तु कृत्स्नवदेकस्मि-
न्कार्ये सक्तमहैतुकम् । अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमु-
दाहृतम् ॥ २२ ॥ नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः । क्रियते बहु-

यथावत भेदों को तुझे समझाता हूँ सुन॥१९॥जिस ज्ञान के द्वारा मालूम हो जाता है कि विभक्त एवं अलग अलग सम्पूर्ण जीवधारियों में एक ही अविभक्त वा अव्यय भाव तत्व है उसी को सात्विक ज्ञान समझना ॥२०॥ जिस ज्ञान के द्वारा अलग होने का ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु सम्पूर्ण प्राणीमात्र में पृथक्-पृथक् प्रकार से अनेक भाव हैं जिस प्रकार कि राजस ज्ञान को ही जानो ॥२१॥ लेकिन जो बिना मतलब के तथा तत्वार्थ को बिना जाने पहचाने एक ही बात में ऐसा जानकर आसक्त रहता है कि जो कुछ यही सब है वही अल्पज्ञता तामस कहलाता है ॥२२॥ जो मनुष्य किए हुए कर्म के फल की इच्छा नहीं करता है और मन में किसी से न तो प्रेम करता है न वैर ही करता है तथा जो नियत कर्म (अपने धर्म के अनुसार) किसी व्यक्ति विशेष से आसक्ति रहित होकर जो कर्म करता है उस कर्म को सात्विक कहते हैं ॥२३॥ लेकिन सकाम अर्थात् कर्म के फल की आशा रखने वाला एवं अहंकार मेधायुक्त पुरुष जो बड़ी महिनत से

लायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥ अनुबंधं क्षयं .हिंसा-
मनवेक्ष्य च पौरुषम् । मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामस-
मुच्यते ॥ २५ ॥ मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्यो निर्विकारःकर्ता सात्त्विकउच्यते ॥ २६ ॥
रागी कर्मफल प्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः । हर्षशोका-
न्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥ अयुक्तः
प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः । विषादी दीर्घ-
सूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव
गुणतस्त्रिविधं शृणु । प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धन-

कर्म करता है उसको राजस कहते हैं ॥ २४ ॥ अब तामस कर्म उसे कहते हैं कि जो मोह (मूर्खता) से बंधन एवं परिणाम, क्षय, हिंसा, तथा सामर्थ्य का विचार न करते हुए जो किया जाता है ॥२५॥ आसक्ति रहित, अहंकार से भरी हुई बातें नहीं करने वाला अर्थात् 'मैं' तथा मेरा" नहीं कहता धैर्य और उत्साह से कर्म को निरन्तर करने वाला कार्य की सिद्धि हो वा न हो ऐसा पुरुष सात्विक कहाता है ॥२६॥ रागी (विषयासक्त) अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के फल को चाहने वाला लोभी कार्य सिद्धि होने पर प्रसन्न कार्य असिद्ध होने पर अप्रसन्न हिंसात्मक (तकलीफ़ देने वाला) मलीन स्वभाव वाला पुरुष राजस कहाता है ॥२७॥ अयुक्त अर्थात् काम में मन नहीं लगाने वाला चञ्चल बुद्धियुक्त असभ्य (अकड़ कर चलने वाला, मूर्ख एवं धोखा देने वाला, दूसरे पुरुषों को नुकसान देने वाला,) आलसी, व्याकुल चित्त (हमेशा अप्रसन्न रहने वाला) दीर्घ सूत्री (हर काम में वृथा देरी करने वाला पुरुष तामस कहाता है ॥२८॥ हे धनञ्जय !

ज्ञय ॥२६ ॥ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥ यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च । अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥ अधर्मं धर्मंमिति या मन्यते तमसा वृता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥ धृत्या यया धारयते मनः प्राणेंद्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन । प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ

बुद्धि एवं धृति के भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार के जुदे-जुदे संपूर्ण भेद तुझ से कहता हूँ उनको तू सुन ॥२६॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति (कोई कर्म करने) तथा निवृत्ति (अर्थात् नहीं करने) को जानती है और कौन कार्य करना व कौन काम नहीं करना है भय अर्थात् किससे डरना और किससे न डरना बन्धन क्या तथा मोक्ष क्या है इन सब के भेद को जो बुद्धि जानती है वही सात्विक है ॥३०॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म तथा अधर्म को एवं कार्य और अकार्य को भली भांति नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि मोह से आच्छादित होकर अधर्म को धर्म समझती है और सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत समझ लेती है वह बुद्धि तामसी कहाती है ॥३२॥ हे पार्थ ! सम्पूर्ण की एकता के समान भाव में निरन्तर लगी रहने वाली जो धृति(धृति से यहाँ मन का दृढ़ होना जानना) मन, प्राण, तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारों को जो धारण करती है वह सात्विकी धृति है ॥३३॥ हे अर्जुन ! जिस धृति से कर्म के

राजसी ॥ ३४ ॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव
च । न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ । अभ्यासाद्रमते
यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥ यत्तदग्रे विषमिव
परिणामेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्म-
बुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥ विषयेंद्रियसंयोगाद् यत्तदग्रे-
ऽमृतोपमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं
स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

फल को चाहने वाला मनुष्य धर्म, काम, एवं अर्थ (पुरुषार्थ) को सिद्ध करता है वह राजसी धृति है ॥३४॥ हे पार्थ ! अज्ञानी पुरुष जिस धृति के द्वारा नींद, भय, शोक, खेद, और मद को नहीं त्यागता वह धृति तामस है ॥३५॥ हे भरतश्रेष्ठ ! अब मैं तुझको सुख के भी तीन भेद बताता हूँ सुन । अभ्यास द्वारा निरन्तर रमण करने वा बर्तने से दुःख का अन्त वा नाश हो जाता है ॥३६॥ जो पहले अभ्यास काल में विष के बराबर मालूम होता है किन्तु परिणाम में अमृत के समान जान पड़ता है वह आत्म-निष्ट बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होने वाला अध्यात्मिक सुख सात्विक कहलाता है ॥३७॥ इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने वाला सुख पूर्व (भोगकाल) में अमृत के समान जान पड़ता है और अन्त (परिणाम) में विष के तुल्य प्रतीत होता है उसको राजस सुख जानना ॥३८॥ प्रारम्भ काल में जो सुख तथा अनुबंध (परिणाम में) एवं सब अवस्थाओं में भी जो आत्मा को मोह में फँसाता है तथा जो निन्द्रा आलस्य एवं प्रमाद (कर्त्तव्य की भूल) से पैदा होने वाला है वह सुख तामस

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्वंप्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥ शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥ शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्र-

---

कहाता है ॥३९॥ पृथ्वी पर, आकाश में एवं देवताओं में भी इस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है जो इस प्रकृति के तीनों (सत, रज, तम) गुणों से परे हो ॥४०॥ हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, और शूद्रों के कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के ही अनुसार अलग-अलग विभक्त हैं ॥४१॥ शम-मनका संयम दम इन्द्रियों का निग्रह, तप-शरीर वाणी और मनका सात्विक तप अर्थात् शिष्टाचार, शौच,भीतर और वाहर की पवित्रता, शान्ति, क्षमा शीलता आर्जव सरलता, ज्ञान (अध्यात्म ज्ञान) विज्ञान एवं सांसारिक पदार्थों का सम्पूर्ण विज्ञान और आस्तिकता अर्थात् आत्मा (परमात्मा) में विश्वास ये ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं ॥४२॥ शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कार्य कुशलता, वा नीतिज्ञता, युद्ध में पीठ पर घाव न लगने देना, दान देने की इच्छा करना, न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा और शासन करना यह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है ॥४३॥ कृषि (खेती करना) गौपालन अर्थात् पशू पालन और व्यौपार यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा इसी

राजसी ॥ ३४ ॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव
च । न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ । अभ्यासाद्रमते
यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥ यत्तदग्रे विषमिव
परिणामेऽमृतोपमम् । तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्म-
बुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥ विषयेंद्रियसंयोगाद् यत्तदग्रे-
ऽमृतोपमम् । परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं
स्मृतम् ॥ ३८ ॥ यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।

फल को चाहने वाला मनुष्य धर्म, काम, एवं अर्थ (पुरुषार्थ) को सिद्ध करता है वह राजसी धृति है ॥३४॥ हे पार्थ ! अज्ञानी पुरुष जिस धृति के द्वारा नींद, भय, शोक, खेद, और मद को नहीं त्यागता वह धृति तामस है ॥३५॥ हे भरतश्रेष्ठ ! अब मैं तुझको सुख के भी तीन भेद बताता हूँ सुन । अभ्यास द्वारा निरन्तर रमण करने वा बर्तने से दुःख का अन्त वा नाश हो जाता है ॥३६॥ जो पहले अभ्यास काल में विष के बराबर मालूम होता है किन्तु परिणाम में अमृत के समान जान पड़ता है वह आत्म-निष्ट बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होने वाला अध्यात्मिक सुख सात्विक कहलाता है ॥३७॥ इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने वाला सुख पूर्व (भोगकाल) में अमृत के समान जान पड़ता है और अन्त (परिणांम) में विष के तुल्य प्रतीत होता है उसको राजस सुख जानना ॥३८॥ प्रारम्भ काल में जो सुख तथा अनुबंध (परिणाम में) एवं सब अवस्थाओं में भी जो आत्मा को मोह में फँसाता है तथा जो निन्द्रा आलस्य एवं प्रमाद (कर्त्तव्य की भूल) से पैदा होने वाला है वह सुख तामस

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्वंप्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ ४० ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥ शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥ शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्र-

---

कहाता है ॥३९॥ पृथ्वी पर, आकाश में एवं देवताओं में भी इस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है जो इस प्रकृति के तीनों (सत, रज, तम) गुणों से परे हो ॥४०॥ हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, और शूद्रों के कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के ही अनुसार अलग-अलग विभक्त हैं ॥४१॥ शम-मनका संयम दम इन्द्रियों का निग्रह, तप-शरीर वाणी और मनका सात्विक तप अर्थात् शिष्टाचार, शौच,भीतर और बाहर की पवित्रता, शान्ति, क्षमा शीलता आर्जव सरलता, ज्ञान (अध्यात्म ज्ञान) विज्ञान एवं सांसारिक पदार्थों का सम्पूर्ण विज्ञान और आस्तिकता अर्थात् आत्मा (परमात्मा) में विश्वास ये ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं ॥४२॥ शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कार्य कुशलता, वा नीतिज्ञता, युद्ध में पीठ पर घाव न लगने देना, दान देने की इच्छा करना, न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा और शासन करना यह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है ॥४३॥ कृषि (खेती करना) गोपालन अर्थात् पशू पालन और व्यौपार यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा इसी

स्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥ यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६ ॥ श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभाव-नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥ सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥ असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा

प्रकार सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ॥४४॥ अपने-अपने कर्मों में अच्छी प्रकार से नित्य लगा हुआ मनुष्य उसी के द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त होता है सो सुन। अपने नित्य कर्मों में तत्पर रहने से किस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है ॥४५॥ हे अर्जुन! जिस परमात्मा से प्राणी (जीव) मात्र की उत्पत्ति हुई है और उसी के द्वारा सम्पूर्ण संसार व्याप्त है उसी आत्मा परमात्मा को अपने-अपने स्वाभाविक कर्मानुसार निरन्तर पूजन करने से मनुष्य उत्तम सिद्धि के फल को प्राप्त हो सकता है ॥४६॥ इस कारण पराये धर्म का आचरण सहल भी हो फिर भी उसके मुकाबिले में अपना ही चारों वर्णों का धर्म उत्तम है इसलिये कि स्वभाव से निश्चय किये हुए अपने धर्म स्वरूप कर्म को करके मनुष्य पाप को ग्रहण नहीं करता ॥ ४७ ॥ इसलिये हे कुन्तीपुत्र! दोषों सहित अपनी प्रकृति के स्वाभाविक कर्म को नहीं छोड़ते क्योंकि सम्पूर्ण कर्म किसी न किसी कर्म से ढँके रहते हैं जैसे धूम से अग्नि ॥ ४८ ॥ इसीलिए हे अर्जुन! सब जगह आसक्ति रहित बुद्धियुक्त लोभ को त्याग कर मन को वशीभूत

विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४६ ॥ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥ बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च । शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वारागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥ विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्काय मानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥ अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा

करके निष्काम बुद्धि से चलने पर (कर्म फल के) संन्यास से परम नैष्कर्म सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥ हे कौंतेय ! इस तरह सिद्ध मिलने पर पुरुष को ज्ञान की परानिष्ठा तत्वज्ञान ब्रह्म जिस तरह प्राप्त होता है वह भी मैं संक्षेप में तुझसे कहता हूँ सुन ॥ ५० ॥ शुद्ध बुद्धि से युक्त होता हुआ धैर्य से आत्म संयम कर शब्द आदि (इन्द्रियों के) विषयों को त्याग कर प्रीति तथा द्वेष को अलहिदा करके ॥५१॥ "विविक्त" अर्थात् एकान्त जगह में रहने वाला मिताहारी अर्थात् हलका और थोड़ा भोजन करने वाला शरीर, वाणी और मन को वश करने वाला हर रोज ध्यान करता हुआ विरक्त ॥ ५२ ॥ एवं अहंकार, बल (ताक़त) घमण्ड, काम, क्रोध, और संग्रह इनको छोड़कर ममता (मोह) से रहित एवं शान्त अन्तःकरण वाला पुरुष सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में एकीभाव होने के लिये समर्थ होता है ॥ ५३ ॥ ब्रह्म में एकीभाव हो जाने से प्रसन्न चित्त होता हुआ वह पुरुष न तो किसी वस्तु के लिये शोक करता है तथा

न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं, लभते पराम् ॥ ५४ ॥ भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥ सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसाद-दवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥ चेतसा सर्व-कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः। बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥ मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्र-सादात्तरिष्यसि । अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनं-क्ष्यसि ॥ ५८ ॥ यदहंकार माश्रित्य न योत्स्य इति

न किसी की आकांक्षा ही एवं सम्पूर्ण प्राणीमात्र में सम भाव हुआ मेरी पराभक्ति (तत्व ज्ञान की पराकाष्ठा, ज्ञान की परानिष्ठा, परम नैष्कर्म सिद्धि एवं पर सिद्धि) को प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ और उस पराभक्ति से वह मेरे को तत्व द्वारा अच्छे प्रकार जानता है कि मैं कौन और कितना हूँ इस तरह मेरे को तत्व ज्ञान से पहचानने से वह (पुरुष) मेरे में ही प्रवेश करता है ॥ ५५ ॥ तथा मेरे ही आश्रय में रहता हुआ, सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी वह मेरे अनुग्रह से शाश्वत और अव्यय स्थान को प्राप्त होता है ॥५६॥ इस कारण हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण कर्मों को मन से मेरे को अर्पण करके मत्परायण होकर साम्य बुद्धि योग के द्वारा निरन्तर मुझ में ही चित्त को रख ॥ ५७ ॥ इस भांति मुझ में तू अनन्य चित्त वाला होकर मेरे अनुग्रह से सम्पूर्ण जन्म, मृत्यु आदि संकटों एवं कर्म के शुभाशुभ फलों को नष्ट कर देगा, लेकिन अहंकार के वशीभूत होता हुआ मेरी आज्ञा को उल्लंघन करेगा तो अवश्य ही नष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥ और जो तू अहंकार को

मन्यसे । मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियो-
क्ष्यति ॥ ५९ ॥ स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धःस्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥ ६० ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि
यंत्रारूढ़ानि मायया ॥ ६१ ॥ तमेव शरणं गच्छ सर्व-
भावेन भारत । तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि-
शाश्वतम् ॥ ६२ ॥ इतिते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं
मया । विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे दृढ़

अवलम्बन करके यह मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा सो यह तेरा विचार झूँठा है प्रकृति एवं क्षत्रियपन का स्वभाव तुझ से अवश्य युद्ध करावेगा ॥ ५९॥ हे अर्जुन ! जिस कर्म को तू अपने स्वभाव से पैदा हुए मोहके कारण जिस युद्ध को नहीं करने की बुद्धि करता है पराधीन अर्थात् प्रकृति के वशीभूत होकर तुझको वही करना पड़ेगा ॥ ६० ॥ हे अर्जुन ! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणी मात्र के हृदय में बैठा हुआ निज माया से प्राणीमात्र को इस प्रकार घुमा रहा है जैसे किसी मशीन पर बैठकर घूमते हैं ॥६१॥ इस कारण हे भारत ! तू हर प्रकार से उसी की ही शरण में प्राप्त हो जिसकी कृपा से तुझको परमशान्ति और सनातन परम धाम प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ इस प्रकार मैंने यह अत्यन्त गुप्त (छिपा हुआ) ज्ञान तुझसे कहा है इसको भली भांति विचार करके जैसा तू चाहता है उसीके अनुसार कर ॥६३॥ इस प्रकार भगवान के कहने पर भी अर्जुन का कोई जवाब न मिलने से

मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥ मन्मना भव
मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति-
जाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं
शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा
शुचः ॥६६॥ इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥ य
इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि
परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥ न च तस्मान्मनु-

भगवान् श्री कृष्ण पुनः बोले—हे अर्जुन ! आखिरी एक बात जो सबसे गुप्त (छिपी) है उसको सुन तू मुझको अत्यन्त (विशेष) प्यारा है इस कारण मैं तेरे कल्याण की बात तुझसे कहता हूँ ॥६४॥ हे अर्जुन ! तू मुझमें अपना मन अनन्य प्रेम से निरन्तर रख मेरा भक्त हो, मेरी पूजनकर मेरी ही वन्दनाकर 'मैं" तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि इन सब कारणों से तू मेरे में लय हो जायगा क्यों कि तू मेरा प्यारा भक्त है ॥६५॥ सम्पूर्ण धर्मों को त्याग कर केवल मेरी ही शरण में रह मैं तुझको सब पापों से मुक्त कर दूंगा मतडर ॥६६॥ जो तप नहीं करता है भगवान की भक्ति नहीं करता, और गीता सुनने की इच्छा भी नहीं करता एवं जो मेरी निन्दा करता है उसको यह (छिपा हुआ रहस्य) कभी मत वतलाना किन्तु जिनमें ऊपर लिखे दोष न हों ऐसे भक्तों से अवश्य कहना ॥६७॥ और जो यह परमगुह्य (गीता शास्त्र) मेरे भक्तों को वतलावेगा उसकी मुझमें अत्यन्त भक्ति है और वह विना किसी संदेह के मुझमें प्राप्त हो जायगा जिस प्रकार नदी समुद्र में जा मिलती है ॥६८॥ और उससे विशेष मेरा

ष्येषु कश्चिन्मे प्रिय कृत्तमः। भविता न च मे तस्मा-
दन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥ अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं
संवादमावयोः। ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे
मतिः ॥७०॥ श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तःशुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञान-
संमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अत्यन्त प्यारा कार्य करने वाला पुरुषों में तथा और न कोई विशेष मेरा अत्यन्त प्रिय पृथ्वी में ही दूसरा कोई होगा ॥ ६९ ॥ हे अर्जुन ! जो मनुष्य हम (श्री कृष्ण अर्जुन) दोनों के संवाद स्वरूप गीता शास्त्र का जो नित्य पाठ करेगा तब मैं जानूंगा कि उसने ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी पूजा करी ॥७०॥ तथा जो मनुष्य दोष रहित श्रद्धा से युक्त होकर जो इसको (गीता) सुनेगा वह भी पापों से मुक्त होकर उन शुभ लोकों में प्राप्त होगा जो पुण्यात्मा लोगों को मिलते हैं ॥ ७१ ॥ हे अर्जुन ! तुमने इस उपदेश (गीता) को एकाग्रचित्त से श्रवण कर लिया। और हे धनंजय ! तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥ अर्जुन बोला हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नाश हो गया। और मुझको कर्तव्य धर्म की स्मृति हुई मैं संशय रहित हो गया हूँ आपकी आज्ञा का पालन (युद्ध) करूंगा ॥७३॥ इसके बाद संजय बोला

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः । संवाद-
मिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥ व्यासप्रसादाच्छ्रु-
तवान् एतद् गुह्यमहं परम् । योगं योगेश्वरात्कृष्णात्
साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥ राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य
संवादमिममद् भुतम् । केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च
मुहुर्मुहुः ॥७६॥ तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद् भुतं
हरेः । विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः

हे राजन् धृतराष्ट्र ! इस तरह मैंने शरीर को रोमाञ्चित करने वाला वासुदेव और महात्मा अर्जुन का रहस्ययुक्त संवाद सुना ॥७४॥ व्यासजी की कृपासे दिव्यदृष्टि द्वारा मैंने यह परम गोपनीय रहस्य युक्त योग अर्थात् कर्मयोग को साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्री कृष्णजी के मुखसे सुना है ॥७५॥ इस कारण हे राजन् धृतराष्ट्र ! श्री कृष्ण और अर्जुन के इस रहस्य युक्त अद्भुत कल्याण कारक संवाद को वार वार याद करके मैं बारंबार प्रसन्न होता हूँ ॥७६॥ और हे राजन् धृतराष्ट्र ! श्री हरि के उस अत्यन्त अद्भुत विश्वरूप को भी बार २ याद करके मेरे चित्त में बहुत ही विस्मय (आश्चर्य) होता है और पुनः पुनः हर्षित होता हूँ ॥७७॥ हे राजन् ! विशेष क्या कहूँ मेरा यह मत है कि जिस जगह यह भगवान् योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और गांडीव धनुर्धर अर्जुन है

॥७७॥ यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोध्यायः ॥ १८ ॥

वहाँ पर ही विजय, विभूति और अचल नीति है यही मेरी राय है ॥ ७८ ॥

इति आगरा निवासी घनश्याम गोस्वामी कृत अठारहवें अध्याय की भाषा टीका समाप्त ॥

श्रीमद्भगवद् गीता अठारह अध्याय समाप्त

श्री विष्णुसहस्रनाम

श्री गणेशाय नमः ।   श्री गोपालकृष्णाय नमः ।

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसार बंधनात् । विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥ १ ॥

वैशंपायन उवाच—

श्रुत्वाधर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः । युधिष्ठिरः शांतनवं पुनरेवाभ्यभाषत ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

किमेकं दैवतं लोके किंवाप्येकं परायणम् । स्तुवंतः कं कमर्चंतः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥३॥ को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः । किं जपन् मुच्यते जंतुर्जन्मसंसारबंधनात् ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच—

जगत्प्रभुं देवदेवमनंतं पुरुषोत्तम् । स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥ ५ ॥ तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् । ध्यायन् स्तुवंन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ॥ ६ ॥ अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोक महेश्वरम् । लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥७॥ ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् । लोकनाथं महद्भूतं

सर्वभूतभवोद्भवम् ॥८॥ एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिक-
तमोमतः । यद्भक्त्या पुंडरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥६॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः । परमं यो महद्ब्रह्म
परमं यः परायणम् ॥१०॥ पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां
च मंगलम् । दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः
पिता ॥११॥ यतः सर्वाणि भूतानि भवंत्यादियुगागमे ।
यस्मिंश्च प्रलयं यांति पुनरेव युगक्षये ॥१२॥ तस्य
लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते । विष्णोर्नामसहस्रं मे
शृणु पापभयापहम् ॥ १३ ॥ यानि नामानि गौणानि
विख्यातानि महात्मनः । ऋषिभिः परिगीतानि तानि
वक्ष्यामि भूतये ॥ ४ ॥ ॐ अस्य श्रीविष्णोर्दिव्यसहस्र-
नामस्तोत्रमंत्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः ॥ श्रीविष्णुः
परमात्मा देवता ॥अनुष्टुप् छन्दः॥ अमृतांशूद्भवो भानु-
रिति बीजम् ॥ देवकीनंदनः स्रष्टेति शक्तिः ॥ त्रिसामा
सामगः सामेति हृदयम् । शंखभृन्नंदकी चक्रीति कील-
कम् ॥ शार्ङ्गधन्वा गदाधर इत्यस्त्रम् ॥ रथांगपाणिर-
क्षोभ्य इति कवचम् ॥ उद्भवः क्षोभणो देव इति परमो
मंत्रः ॥ श्रीमहाविष्णुप्रीत्यर्थे (पाठे) जपे विनियोगः ॥
अथ न्यासः ॥ विश्वं विष्णुर्वषट्कार इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः॥
अमृतांशूद्भवो भानुरिति तर्जनीभ्यां नमः ॥ ब्रह्मण्यो
ब्रह्मकृद्ब्रह्मेति मध्यमाभ्यां नमः ॥ सुवर्णबिंदुरक्षोभ्य

इत्यनामिकाभ्यां नमः ॥ निमिषोऽनिमिषः स्रग्वीति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥ रथांगपाणिरक्षोभ्य इति करतल-करपृष्ठाभ्यां नमः ॥ एवं हृदयादिन्यासः ॥अथ ध्यानम्॥ शांताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं विश्वाधारं गगन-सदृशं मेघवर्णं शुभांगम् । लक्ष्मीकांतं कमलनयनं योगि-भिर्ध्यानगम्यं वंदे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥१॥

अथ विष्णु सहस्रनाम शापमोचनम् ॥

ॐ अस्य श्री विष्णोःसहस्रानाम्नांरुद्रशापविमोचन मंत्रस्यमहादेवऋषिः अनुष्टुप्छन्दः श्रीरुद्रानुग्रह शक्ति-र्देवता सुरेशःशरणंशर्मेतिबीजं ॥ अनन्तो हुतहुद्भोक्ता इति शक्तिः ॥ सुरेश्वरायेति कीलकम् ॥ रुद्रशापविमो-चनेविनियोगः॥ ऋष्यादिन्यासः ॥ ॐ महादेवऋषयेनमः शिरसि ॥ ॐ अनुष्टुप्छन्दसेनमोमुखे ॥ ॐ रुद्रानुग्रह-शक्तिर्देवतायैनमः हृदि ॥ ॐ सुरेशः शरणं शर्मेति बीजायनमः गुह्ये ॥ ॐ अनन्तोहुतहुद्भोक्ता इतिशक्तये नमः पादयोः ॥ ॐ सुरेश्वरायेति कीलकायनमः सर्वाङ्गे॥

हां हीं हूं हैं हौं हः इससे करन्यास व षडङ्गन्यास करना ।

॥ अथ ध्यानम् ॥

तमालश्यामलतनुम्पीतकौशेयवाससम् ॥
वर्णमूर्तिमयंदेवं ध्यायेन्नारायणं विभुम् ॥ १ ॥

ॐ क्लीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः स्वाहा ॥ इति मंत्रं शतं दशवारं वा जप्त्वा किञ्चिज्जलंक्षिप्त्वाप्रार्थयेत् ॥ अस्य श्री विष्णोः सहस्रनामस्तवरुद्रशापविमुक्ताभव ॥ तदनन्तरं सहस्रनामपठनंकुर्यात् ॥ विष्णोः सहस्रनाम्नां शापमोचनमकृत्वाय: पठेच्छुभानि सर्वाणितस्यस्युः निष्फलानि ॥ इत्यगस्त्य संहितायां श्रीविष्णोः सहस्रनाम्नां रुद्रशाप विमोचन विधिः ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः । भूतकृद् भूतभृद्भावो भूतात्माभूतभावनः ॥ १ ॥ पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः । अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥ २ ॥ योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः । नारसिंहवपुः श्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः ॥ ३ ॥ सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः । संभवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः ॥४॥ स्वयंभूः शंभुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः । अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः ॥ ५ ॥ अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः । विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरोध्रुवः ॥ अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः । प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मंगलं परम् ॥७॥ ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः । हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥८॥

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः । अनुत्तमो दुराधर्षः कृतज्ञः कृतिरात्मवान् ॥९॥ सुरेशः शरणं शर्म विश्वरेताः प्रजाभवः । अहःसंवत्सरो व्यालः प्रत्ययः सर्वदर्शनः ॥१०॥ अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः । वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिःसृतः ॥११॥ वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मा संमितः समः । अमोघः पुंडरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः ॥१२॥ रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः । अमृतः शाश्वतः स्थाणुर्वरारोहो महातपाः ॥१३। सर्वगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः । वेदो वेदविदव्यंगो वेदांगो वेदवित् कविः ॥१४॥ लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः । चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ॥१५॥ भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः । अनघो विजयो जेता विश्वयोनिः पुनर्वसुः ॥१६॥ उपेन्द्रो वामनः प्रांशुरमोघः शुचिरूर्जितः । अतीन्द्रःसंग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः ॥१७॥ वेद्यो वैद्यः सदायोगी वीरहा माधवो मधुः । अतीन्द्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः ॥ १८ ॥ महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः । अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक् ॥१९॥ महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतांगतिः । अनिरुद्धः सुरानन्दो गोविन्दो गोविदांपतिः ॥ २० ॥ मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुज-

शोत्तमः । हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥२१॥
अमृत्युः सर्वदृक्सिंहः संधाता संधिमान् स्थिरः । अजो
दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा ॥२२॥ गुरुर्गुरु-
तमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः । निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी
वाचस्पतिरुदारधीः ॥२३॥ अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान् न्यायो
नेता समीरणः । सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्र-
पात् ॥२४॥ आवर्त्तनो निवृत्तात्मा संवृतः संप्रमर्दनः ।
अहः संवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥२५॥ सुप्रसादः
प्रसन्नात्मा विश्वधृग्विश्वभुग्विभुः । सत्कर्ता सत्कृतः साधु-
र्जह्नुर्नारायणो नरः ॥२६॥ असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः
शिष्टकृच्छुचिः । सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धि-
साधनः ॥२७॥ वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥ २८ ॥ सुभुजो
दुर्धरो वाग्मी महेंद्रो वसुदो वसुः । नैकरूपो बृहद्रूपः
शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥२९॥ ओजस्तेजोद्युतिधरः प्रका-
शात्मा प्रतापनः । ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मंत्रश्चंद्रांशुर्भास्कर-
द्युतिः ॥३०॥ अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥३१॥ भूतभव्य-
भवन्नाथः पवनः पावनोऽनलः । कामहा कामकृत् कांतः
कामः कामप्रदः प्रभुः ॥३२॥ युगादिकृद्युगावर्तो नैक
मायो महाशनः । अदृश्योऽव्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनंत-

जित् ॥३३॥ इष्टो विशिष्टः शिष्टेष्टः शिखंडी नहुषो वृषः । क्रोधहा क्रोधकृत्कर्ता विश्वाहुर्महीधरः ॥३४॥ अच्युतः प्रथितः प्राणः प्राणदो वासवानुजः । अपांनिधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥ स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः । वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरन्दरः ॥३६॥ अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः । अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥३७॥ पद्मनाभोऽरविंदाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् । महर्द्धिर्ऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ॥३८॥ अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः । सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान् समितिंजयः ॥३९॥ विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः । महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥४०॥ उद्भवः क्षोभणोदेवः श्रीगर्भः परमेश्वरः । करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ॥ ४१ ॥ व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः । परर्द्धिः परमस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः ॥४२॥ रामो विरामो विरजो मार्गो नेयोनयोऽनयः । वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्म विदुत्तमः ॥४३॥ वैकुंठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः । हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ॥४४॥ ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः । उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षणः ॥४५॥ विस्तारः स्थावर स्थाणुः प्रमाण

बीजमव्ययम् । अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ॥४६॥ अनिर्विण्णः स्थविष्ठो भूर्धर्मयूपो महामखः । नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षामः समीहनः ॥४७॥ यज्ञइज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्त्रं सतां गतिः । सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥४८॥ सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत् । मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥४९॥ स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत् । वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥५०॥ धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम् । अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥५१॥ गभस्तिनेमिः सत्त्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः । आदि देवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥५२॥ उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः । शरीरभूतभृद्भोक्ता कपींद्रो भूरिदक्षिणः ॥ ५३ ॥ सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः । विनयो जयः सत्यसंधो दाशार्हः सात्वतांपतिः ॥५४॥ जीवो विनयिता साक्षी मुकुंदोऽमित विक्रमः । अंभोनिधिरनंतात्मा महोदधिशयोऽतकः ॥५५॥ अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः । आनंदो नंदनो नंदः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥५६॥ महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः । त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतांतकृत् ॥५७॥ महावराहो गोविंदः सुषेणः कनकांगदी । गुह्यो गभीरो गहनो

गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥५८॥ वेधाः स्वांगोऽजितः कृष्णो
दृढः संकर्षणोऽच्युतः । वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो
महामनाः ॥५९॥ भगवान् भगहा नंदी वनमाली हला-
युधः। आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः॥६०॥
सुधन्वा खंडपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः । दिवस्पृक्सर्व-
दृग्व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥६१॥ त्रिसामः सामगः
साम निर्वाणं भेषजं भिषक्। सन्यासकृच्छमः शांतो
निष्ठा शांतिः परायणः ॥६२॥ शुभांगः शान्तिदः स्रष्टा
कुमुदः कुवलेशयः। गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृष-
प्रियः ॥६३॥ अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतांवरः ॥६४॥
श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः। श्रीधरः
श्रीकरः श्रेयः श्रीमांल्लोकत्रयाश्रयः ॥६५॥ स्वक्षः स्वंगः
शतानंदो नंदिर्ज्योतिर्गणेश्वरः। विजितात्माऽविधेयात्मा
सत्कीर्तिश्छिन्नसंशयः ॥६६॥ उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः
शाश्वतः स्थिरः। भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोक-
नाशनः ॥६७॥ अर्चिष्मानर्चितः कुंभो विशुद्धात्मा
विशोधनः । अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमित-
विक्रमः ॥६८॥ कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ॥६९॥
कामदेवः कामपालः कामी कांतः कृतागमः। अनिर्देश्य-

वपुर्विष्णुर्वीरोऽनंतो धनंजयः ॥७०॥ ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्
ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः । ब्रह्मविद्ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो
ब्राह्मणप्रियः ॥७१॥ महाक्रमो महाकर्मा महातेजः महोरगः।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ॥७२॥ स्तव्यः
स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः । पूर्णः पूर-
यिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ॥७३॥ मनोजवस्तीर्थ-
करो वसुरेता वसुप्रदः । वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना
हविः ॥७४॥ सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परा-
यणः । शूरसेनो यदुश्रेष्टः सन्निवासः सुयामुनः ॥७५॥
भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनिलः । दर्पहा दर्पदो
दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥७६॥ विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्त-
मूर्तिरमूर्तिमान् । अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शता-
ननः ॥७७॥ एकोऽनैकः स वः कः किं यत्तत्पदमनुत्त-
मम् । लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥७८॥
सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चंदनांगदी । वीरहा विषमः
शून्यो धृताशीरचलश्चलः ॥७९॥ अमानीमानदोमान्यो-
लोकस्वामी त्रिलोकधृक् । सुमेधा मेधजो धन्यः सत्य-
मेधा धराधरः ॥८०॥ तेजोवृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां
वरः । प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ॥८१॥
चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः । चतुरात्मा चतु-
र्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥८२॥ समावर्तो निवृत्तात्मा

दुर्जयो दुरतिक्रमः। दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥८३॥ शुभांगो लोकसारंगः सुतंतुस्तंतुवर्धनः। इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥८४॥ उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः। अर्को वाजसनः शृङ्गीजयंतः सर्वविज्जयी ॥८५॥ सुवर्णबिंदुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः। महाहृदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥८६॥ कुमुदः कुंदरः कुंदः पर्जन्यः पावनोऽनिलः। अमृताशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥८७॥ सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः। न्यग्रोधोदुंबरोऽश्वत्थश्चाणूरांध्रनिषूदनः ॥८८॥ सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः। अमूर्तिरनघोऽचिंत्यो भयकृद्भयनाशनः ॥८९॥ अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्। अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥९०॥ भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः। आश्रमः श्रवणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥९१॥ धनुर्धरो धनुर्वेदो दंडो दमयिता दमः। अपराजितः सर्वसहो नियंता नियमो यमः ॥९२॥ सत्ववान् सात्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः। अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत् प्रीतिवर्धनः ॥९३॥ विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग्विभुः। रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥९४॥ अनंतो हुतभुग्भोक्ता सुखदो नैकजोऽग्रजः। अनिर्विण्णः सदा-

अर्पी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥ ९५ ॥ सनात्सनातनतमः
कपिलः कपिरव्ययः । स्वस्तिदः स्वस्तिकृत्स्वस्ति स्वस्ति-
भुक् स्वस्ति दक्षिणः ॥९६॥ अरौद्रः कुंडली चक्री विक्र-
म्यूर्जितशासनः । शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरी-
करः ॥९७॥ अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणांवरः ।
विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥९८॥ उत्तारणो
दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः । वीरहा रक्षणः संतो
जीवनः पर्यवस्थितः ॥९९॥ अनंतरूपोऽनंतश्रीजितमन्युर्भ-
यापहः । चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो
दिशः॥१००॥ अनादिर्भूर्भुवोलक्ष्मीःसुवीरो रुचिरांगदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥१॥ आधारनि-
लयो धाता पुष्पहासः प्रजागरः । ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः
प्राणदः प्रणवः पणः ॥२॥ प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत्
प्राणजीवनः । तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः
॥३॥ भूर्भुवः स्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः । यज्ञो
यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञांगो यज्ञवाहनः ॥४॥ यज्ञभृद्यज्ञकृद्यज्ञी
यज्ञभुग्यज्ञसाधनः । यज्ञांतकृद्यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च
॥५॥ आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ।
देवकीनंदनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥६॥ शंखभृन्नं-
दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः । रथांगपाणिरक्षोभ्यः
सर्वप्रहरणायुधः ॥१०७॥ सर्वप्रहरणायुध ओंनम इति ॥

इतीदं कीर्तिनीयस्य केशवस्य महात्मनः। नाम्नां सहस्रं
दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥१॥ य इदं शृणुयान्नित्यं
यश्चापि परिकीर्तयेत्। नाशुभं प्राप्नुयात् किंचित्सोऽमु-
त्रेह च मानवः ॥२॥ वेदांतगो ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रियो
विजयी भवेत्। वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नु-
यात् ॥३॥ धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात्।
कामानवाप्नुयात्कामी प्रजार्थी प्राप्नुयात्प्रजाम् ॥४।
भक्तिमान्यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः। सहस्रं वासु-
देवस्य नाम्नामेतत्प्रकीर्तयेत् ॥ ५ ॥ यशः प्राप्नोति
विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च। अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः
प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ६ ॥ न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं
तेजश्च विंदति। भवत्यरोगो द्युतिमान्बलरूपगुणान्वितः
॥७॥ रोगार्तो मुच्यते रोगात् बद्धो मुच्येत बंधनात्। भया-
न्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥८॥ दुर्गाण्यति-
तरत्याशु पुरुषः पुरुषोत्तमम्। स्तुवन्नामसहस्रेण नित्यं
भक्ति समन्वितः ॥ ९ ॥ वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेव-
परायणः। सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥१०॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्। जन्ममृत्यु-
जराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥११॥ इमं स्तवमधीयानः
श्रद्धाभक्ति समन्वितः। युज्येतात्मासुखक्षांति श्रीधृति-
स्मृतिकीर्तिभिः ॥१२॥ न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो

नाशुभामतिः । भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानांपुरुषोत्तमे ॥१३॥ द्यौः सचंद्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः। वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥ १४ ॥ ससुरासुरगंधर्वं सयक्षोरगराक्षसम् । जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥१५॥ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥१६॥ सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते । आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥१७॥ ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः । जंगमाजंगमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥१८॥ योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्या शिल्पादि कर्म च । वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ॥१९॥ एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः। त्रीन्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुंक्तेविश्वभुगव्ययः ॥२०॥ इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् । पठेद्य इच्छेत्पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥२१॥ विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् । भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यांति पराभवम् ॥ २२ ॥

अर्जुन उवाच—

पद्मपत्रविशालाक्ष पद्मनाभ सुरोत्तम । भक्तानामनुरक्तानां त्राता भव जनार्दन ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच—

यो मां नाम सहस्रेण स्तोतुमिच्छति पांडव। सो-
ऽहमेकेन श्लोकेन स्तुत एव न संशयः ॥२४॥ नमो-
ऽस्त्वनंताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः
॥२५॥ नमः कमलनाभाय नमस्ते जलशायिने नमस्ते
केशवानंत वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥ २६ ॥ वासनाद्वासु-
देवस्य वासितं भुवनत्रयम्। सर्वभूतनिवासोऽसि वासु-
देव नमोस्तुते ॥२७॥ नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मणहि-
ताय च। जगद्धिताय कृष्णाय गोविंदाय नमोनमः॥२८॥
आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेव-
नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥२९॥ एष निष्कंटकः
पंथा यत्र संपूज्यते हरिः। कुपथं तं विजानीयाद्गोविंद
रहितागमम् ॥ ३० ॥ सर्ववेदेषु यत्पुण्यं सर्वतीर्थेषु
यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति स्तुत्वा देवं जनार्दनम्
॥ ३१ ॥ यो नरः पठते नित्यं त्रिकालं केशवालये।
द्विकालमेककालं वा क्रूरं सर्वं व्यपोहति ॥ ३२ ॥ दह्यंते
रिपवस्तस्य सौम्याः सर्वे सदाग्रहाः। विलीयंते च पापानि
स्तवे ह्यस्मिन् प्रकीर्तिते ॥ ३३ ॥ येन ध्यातः श्रुतो येन
येनायं पठ्यते स्तवः। दत्तानि सर्वदानानि सुराः सर्वे
समर्चिताः ॥ ३४ ॥ इह लोके परे वापि न भयं विद्यते

क्वचित् । नाम्नां सहस्रं योऽधीते द्वादश्यां मम सन्निधौ ॥ ३५ ॥ शनैर्दहति पापानि कल्पकोटिशतानि च । अश्वत्थसन्निधौ पार्थ तुलसीसन्निधौ तथा ॥३६॥ पठेन्नामसहस्रं तु गवां कोटिफलं लभेत् । शिवालये पठेन्नित्यं तुलसीवनसंस्थितः ॥ ३७ ॥ नरो मुक्तिमवाप्नोति चक्रपाणेर्वचो यथा । ब्रह्महत्यादिकं घोरं सर्वपापं विनश्यति ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामानुशासनिके पर्वणि दानधर्मे भीष्मयुधिष्ठरसंवादे श्रीविष्णोर्दिव्यसहस्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

शुभंभवतु ॥ श्रीरस्तु ॥

भीष्मस्तवराजः

श्री गणेशाय नमः ॥ श्री गोपालकृष्णाय नमः ॥

जनमेजय उवाच—

शरतल्पे शयानस्तु भारतानां पितामहः । कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत् ॥ १ ॥

वैशंपायन उवाच—

शृणुष्वावहितो राजन् शुचिर्भूत्वा समाहितः । भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥२॥ निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे । समावेशयदात्मानमात्म-

न्येव समाहितः ॥३॥ शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव। प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥४॥ विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः। शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥५॥ व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा। देवरातेन वात्स्येन तथा तेन सुमंतुना ॥६॥ तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना। शांडिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥ ७ ॥ असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना। हारीतरोमशाभ्यां च तथात्रेयेण धीमता ॥८॥ बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः। सनत्कुमारकपिलौ वाल्मीकिस्तुंबुरुः कुरुः॥ ९ ॥ मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृण बिंदुर्महामुनिः। पिप्पलादश्च वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः ॥ १० ॥ कश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः। मरीचिरंगिराः कण्वो गौतमो गालवो मुनिः ॥ ११ ॥ धौम्यो विभांडो मांडव्यो धौम्रः कृष्णोऽनुभौतिकः। उलूकः परमो विप्रो मार्कंडेयो महामुनिः ॥१२॥ भास्करः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः। शैब्येन याज्ञवल्क्येन शंखेन लिखितेन च ॥ १३ ॥ एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः। श्रद्धादमपुरस्कारैर्वृतश्चंद्र इवग्रहैः ॥ १४ ॥ भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्र कर्मणा मनसा गिरा। शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्रांजलिः शुचिः ॥१५॥ स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम्। योगेश्वरं पद्मनाभं

विष्णुं जिष्णुं जगत्प्रभुम् ॥ १६ ॥ कृतांजलिः शुचिर्भूत्वा वाग्विदांप्रवरः प्रभुः । भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथाऽस्तुवत् ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच—

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जगदिषाम्यहम् । तथा व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥ शुचिं शुचिपद हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् । मुक्त्वा सर्वात्मनात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् । १९ ॥ अनाद्यं तत्परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः । एकोऽयं भगवान् देवो धाता नारायणो-हरिः ॥ २० ॥ नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः । देवादेवर्षयश्चैव तं विदुः परमव्ययम् ॥ २१ ॥ देवदानव गंधर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः । यं न जानंति को ह्येषः कुतो वा भगवानिति ॥ २२॥ यस्मिन्विश्वानि भूतानि तिष्ठंति च विशंति च । गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥ २३ ॥ यस्मिन्नित्ये तते तंतौ दृढे स्रगिव तिष्ठति । सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वांगे विश्वकर्मणि ॥२४॥ हरिं महस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ।सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ॥ प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥ २५ ॥ अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् । गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ २६ ॥ यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च । गृणंति सर्वकर्माणं सत्यं सत्येषु

सामसु ॥२७॥ चतुर्भिश्चतुरात्मानंसत्त्वस्थं सात्वतां पतिम् ।
यं दिव्यैर्देवमर्चंति गुह्यैः परमनामभिः ॥ २८ ॥ यस्मि-
न्नित्यं तपस्तप्तं यदंगेष्वनुतिष्ठति । सर्वात्मा सर्ववित्सर्वः
सर्वगः सर्वभावनः ॥ २९ ॥ यं देवं देवकी देवी वसुदेवा-
दजीजनत् । भूमेश्च ब्राह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः
॥ ३० ॥ यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् ।
दृष्ट्वाऽनंत्याय गोविंदं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ३१ ॥
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्याग्नितेजसम् । अतिबुद्धीं-
द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ३२ ॥ पुराणे पुरुषं
प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु । क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमु-
पास्यमुपास्महे ॥ ३३ ॥ यमेकं बहुधात्मानं प्रादुर्भूत-
मधोक्षजम् । नान्यं भक्ताः क्रियावंतो यजंते सर्वका-
मदम् ॥ ३४ ॥ यं प्राहुर्जगतः कोशं यस्मिन्सन्निहिताः
प्रजाः । यस्मिन् लोकाः स्फुरंतीमे जले शकुनयो यथा
॥ ३५ ॥ ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत्तत्सदसतः परम् । अना-
दिमध्यपर्यंतं न देवा नर्षयो विदुः ॥ ३६ ॥ यं सुरासुर-
गंधर्वाः ससिद्धर्षिमहोरगाः । प्रयता नित्यमर्चंति परमं
दुःखभेषजम् ॥ ३७ ॥ अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं
सनातनम् । अवितर्क्यमविज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥३८॥
यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् । वदंति
जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ ३९ ॥ हिरण्यवर्णो यो

गर्भो दितेर्दैत्यनिषूदनः। एको द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ४० ॥ शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः। यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ ४१ ॥ हुताशनमुखैर्देवैर्धार्यते सकलं जगत्। हविः प्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः ॥ ४२ ॥ महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्। यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ ४३ ॥ यं बृहंतं बृहत्युक्थे यमिनो यं महाध्वरे। यं विप्रसंघा गायंति तस्मै वेदात्मने नमः ॥ ४४ ॥ ऋग्यजुः सामाथर्वाणं दशार्धं हविरात्मकम्। यं सप्ततंतुं तन्वंति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥४५ ॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥ ४६ ॥ यः सुपर्णो यजुर्नाम छंदोगात्रस्त्रिवृच्छिराः। रथंतरं बृहत्साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥४७॥ यः सहस्रसमे सत्रे यज्ञे विश्वसृजामृषिः। हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै तार्क्ष्यात्मने नमः ॥४८॥ पदांगसंधिपर्वाणं स्वरव्यंजनभूषणम्। यमाहुरक्षरं नित्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ४९ ॥ यज्ञांगो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह। लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ५० ॥ यः शेते योगमास्थाय पर्यंके नागभूषिते। फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥ ५१ ॥ यश्चिनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना। धर्मार्थं व्यव-

हारार्थं तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ ५२ ॥ यं पुनर्धर्मंचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः । पृथग्धर्मैः समर्चंति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ ५३ ॥ यतः सर्वे प्रसूयंते ह्यनंगाच्चैव देहिनः । उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः ॥ ५४ ॥ यत्तद्व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वंति महर्षयः । क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥ ५५ ॥ यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः । प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥५६॥ यं विनिद्रा जितश्वासाः शांता दांता जितंद्रियाः। ज्योतिः पश्यंति युंजानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ ५७ ॥ अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः । शांताः संन्यासिनो यांति तस्मै मोक्षात्मने नमः ॥ ५८ ॥ योऽसौ युगसहस्रांते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः । संक्षोभयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥ ५९ ॥ संभक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत् । बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः ॥ ६० ॥ अजस्य नाभ्यां संभूतं यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम् । पुष्करं पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ ६१ ॥ सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने । चतुःसमुद्रपर्यंके योगनिद्रात्मने नमः ॥ ६२ ॥ यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु । कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ६३ ॥ यस्मात्सर्वाः प्रसूयंते सर्गप्रलयविक्रियाः । यस्मिंश्चैव

अलीयंते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥ ६४ ॥ यो निषण्णो भवेद्रात्रौ दिवा भवति धिष्ठितः । इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्टात्मने नमः ॥ ६५ ॥ अकुंठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थ मुद्यतम् । वैकुंठस्य हि तद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥ ६६ ॥ विभज्य पंचधात्मानं वायुभूतः शरीरगः । यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ६७ ॥ ब्रह्मवक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः । पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ ६८ ॥ युगेष्वावर्तमानेषु मासर्त्वयनहायनैः । सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ६९ ॥ यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः । सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ ७० ॥ परः कालात् परो यज्ञात्परात्परतरो हि यः । अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ७१ ॥ विषये वर्तमानो यस्तं वैशेषिकनिर्गुणैः । प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रात्मने नमः ॥ ७२ ॥ अन्नपानेंधनमयो रसप्राणविवर्धनः । यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ७३ ॥ पिंगेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् । दानवेंद्रांतकरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः ॥ ७४ ॥ रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान्विभुः । जगद्धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ७५ ॥ यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबंधनैः । सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने

नमः ॥ ७९ ॥ भूतलातलमध्यस्थौ हत्वा तु मधुकैटभौ ।
उद्धृता येन वै वेदास्तस्मै मत्स्यात्मने नमः ॥ ७७ ॥
ससागरवनां बिभ्रत्सप्तद्वीपां वसुंधराम् । यो धारयति
पृष्ठेन तस्मै कूर्मात्मने नमः ॥ ७८ ॥ एकार्णवे हि मग्नां
तां वाराहं रूपमास्थितः । उद्धार महीं योऽसौ तस्मै
क्रोधात्मने नमः ॥ ७९ ॥ नारसिंहं वपुः कृत्वा यस्त्रैलो-
क्यभयंकरम् । हिरण्यकशिपुं जघ्ने तस्मै सिंहात्मने नमः
॥ ८० ॥ वामनं रूपमास्थाय बलिं संयम्य मायया ।
इमे क्रांतास्त्रयो लोकास्तस्मै क्रांतात्मने नमः ॥ ८१ ॥
जमदग्निसुतो भूत्वा रामः परशुधृग् विभुः । सहस्रार्जु-
नहंतैव तस्मै उग्रात्मने नमः ॥ ८२ ॥ रामो दाशरथि-
र्भूत्वा पौलस्त्यकुलनंदनम् । जघान रावणं संख्ये तस्मै
क्षत्रात्मने नमः ॥ ८३ ॥ वसुदेवसुतः श्रीमान्वासुदेवो
जगत्पतिः । जहार वसुधाभारं तस्मै कृष्णात्मने
नमः ॥ ८४ ॥ बुद्धरूपं समास्थाय सर्वरूपपरायणः ।
मोहयन्सर्वभूतानि तस्मै बुद्धात्मने नमः ॥८५॥ हनिष्यति
कलेरंते म्लेच्छांस्तुरगवाहनः । धर्मसंस्थापनार्थाय तस्मै
कल्क्यात्मने नमः ॥ ८६ ॥ आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा-
पंचस्ववस्थितः । यं ज्ञानेनाधिगच्छंति तस्मै ज्ञानात्मने
नमः ॥ ८७ ॥ अप्रमेय शरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुषे ।
अपारपरमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥ ८८ ॥ जटिने

दंडिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे। कमंडलुनिषंगाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ८९ ॥ शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यंबकाय महात्मने। भस्मदिग्धोर्ध्व लिंगाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ ९० ॥ चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने। पिनाकशूलहस्ताय तस्मै उग्रात्मने नमः ॥ ९१ ॥ पंचभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च। अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शांतात्मने नमः ॥ ९२ ॥ यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वे सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो देवस्तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ९३ ॥ विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मा विश्वसंभवः। अपवर्गस्यभूतानां पंचानां परतः स्थितः ॥९४॥ नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परितस्त्रिषु। नमस्ते त्रिषु सर्वेषु त्वं हि सर्वमयो निधिः ॥ ९५ ॥ नमस्ते भगवन्विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय। त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ ९६ ॥ तेन पश्यामि भगवन् दिव्येषु त्रिषुवर्त्मसु। तच्चपश्यामि तत्वेन यत्ते रूपं सनातनम् ॥ ९७ ॥ द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां देवी वसुन्धरा। विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ९८ ॥ दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्यं शुक्रः प्रजापतिः। सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमित तेजसः ॥ ९९॥ अतसीपुष्पसंकाशं पीतकौशेयवाससम्। ये नमस्यंति गोविंदं न तेषां विद्यते भयम् ॥१००॥ नमो नरकसंत्रास

रक्षामंडलकारिणे । संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥१०१॥ नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च । जगद्धिताय कृष्णाय गोविंदाय नमो नमः ॥१०२॥ प्राणकांतारपाथेयं संसारच्छेदभेषजम् । दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥१०३॥ यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमय जगत् । यथा विष्णुमयं सर्वं पापं नाशयते तथा ॥१०४॥ त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे । यच्छ्रेयः पुंडरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरेश्वर ॥१०५॥ इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः । वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥१०६॥ नारायणपरं ब्रह्म नारायणपरं तपः । नारायणपरं चेदं सर्वं नारायणात्मकम् ॥१०७॥

वैशंपायन उवाच—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः । नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥१०८॥ अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः । त्रैलोक्यदर्शनेज्ञानं दिव्यं दत्वा ययौ हरिः ॥ १०९ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः । भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकंठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥ ११०॥ ते स्तुवंतश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम् । भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥ १११ ॥ यं योगिनः प्राण वियोगकाले यत्नेन चित्ते विनिवेशयंति । साक्षात्पुरस्ताद्धरिमीक्षमाणः प्राणाञ्जहौ प्राप्तकालो हि

भीष्मः ॥ ११२ ॥ शुक्लपक्ष दिवा भूमौ गंगायां चोत्त-
रायणे। धन्यास्तात मरिष्यंति हृदयस्थे जनार्दने ॥ ११३ ॥
विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः । सहसोत्थाय
संतुष्टो यानमेवाभ्यपद्यत ॥ ११४ ॥ केशवः सात्य-
किश्चैव रथेनैकेन जग्मतुः । अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिर-
धनंजयौ ॥ ११५ ॥ भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं
समास्थिताः । कृपो युयुत्सुः सूतश्चसंजयश्चापरं रथम्
॥ ११६ ॥ ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः । नेमि-
घोषेण महता कंपयंतो वसुंधराम् ॥ ११७ ॥ ततो गिरः
पुरुषवरस्तवान्विता द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे ।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं स केशिहा मुदितमनाभ्य-
नंदत ॥ ११८ ॥ अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोक महेश्व-
रम् । धर्माध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥
इमं स्तवं यः पठति शार्ङ्गधन्वनः शृणोति वा भक्तिस-
मन्वितो जनः । स चक्रधृक् प्रतिहतसर्वकल्मषो जनार्दनं
प्रविशति देहसंक्षये ॥ १२० ॥ अशनिशितसुधारं यस्य-
चक्रं सुचारु मणिकनकविचित्रे कुंडले यस्य कर्णे । भ्रमर
शतसहस्रैः सेविता यस्य माला असुरकुलनिहंता प्रीयतां
वासुदेवः ॥ १२१ ॥ स्तवराजः समाप्तोऽयं विष्णोरद्भु-
तकर्मणः। गांगेयेन पुरा गीतो महापातकनाशनः॥१२२॥

श्रीभगवानुवाच—

यः संपठेदिदं स्तोत्रं मम जन्मानुकीर्तनम् । देवंलोक-
मतिक्रम्य तस्य लोको यथा मम ॥ १२३ ॥

इति श्री मन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिर
संवादे भीष्मस्तवराजः समाप्तः ।
श्री कृष्णार्पणमस्तु ।

अनुस्मृतिः

श्री गणेशाय नमः ॥ श्री गोपालकृष्णाय नमः ॥

शतानीक उवाच—

महामते महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद । अक्षीणकर्म-
बंधस्तु पुरुषो द्विजसत्तम ॥ १ ॥ सततं किं जपेज्जाप्यं
विबुधः किमनुस्मरन् । मरणे यज्जपेज्जाप्यं यं च भाव-
मनुस्मरन् ॥ २ ॥ यं च ध्यात्वा द्विजश्रेष्ठ पुरुषो मृत्यु-
मागतः । परं पदमवाप्नोति तन्मे वद महामुने ॥ ३ ॥

शौनक उवाच ।

इदमेव महाप्राज्ञ पृष्टवांश्च पितामहम् । भीष्म
धर्मभृतां श्रेष्ठं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद । प्रयाणकाले
किं चिंत्यं मुमुक्षोस्तत्त्वचिंतकैः ॥ ५ ॥ किं नु स्मरन्

कुरुश्रेष्ठ मरणे पर्युपस्थिते । प्रायांन्तु परमां सिद्धिं श्रोतु-
मिच्छामि तत्त्वतः ॥६॥

भीष्म उवाच—

तद्युक्तं स्वहितं सूक्ष्मं प्रश्नमुक्तं त्वयाऽनघ । शृणु-
ष्वावहितो राजन्नारदेन पुरा श्रुतम् ॥७॥ श्रीवत्साकं जग-
द्बीजमनंतं लोकसाक्षिणम् । पुरा नारायणं देवं नारदः
परिपृष्टवान् ॥ ८ ॥

नारद उवाच—

त्वमक्षरं परं ब्रह्म निर्गुणं तमसः परम् । आहुर्वेद्यं
परं धाम ब्रह्माणं कमलोद्भवम् ॥६॥ भगवन् भूतभव्येश
श्रद्धानैर्जितेंद्रियैः । कथं भक्तैर्विचिंत्योऽसि योगिभिर्मो-
क्षकांक्षिभिः ॥१०॥ किं नु जाप्यं जपेन्नित्यं कल्य उत्थाय
मानवः । कथं जपेत्सदा ध्यायेद्ब्रूहि तत्त्वं सनातनम् ॥११॥

भीष्म उवाच—

श्रुत्वा च तस्य देवर्षेर्वाक्यं वाक्यविशारदः । प्रोवाच
भगवान्विष्णुर्नारदाय च धीमते ॥१२॥

श्रीभगवानुवाच—

हंत ते कथयिष्यामि इमां दिव्यामनुस्मृतिम् । मरणे
मामनुस्मृत्य प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१३॥ यामधीत्य
प्रयाणे तु मद्भावायोपपद्यते । ॐ कारमग्रतः कृत्वा मां
नमस्कृत्य नारद ॥१४॥ एकाग्रः प्रयतो भूत्वा इमं मंत्रमु-
दीरयेत् । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ॥१५॥ अव-

शेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते
सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥१६॥ क्षराक्षरविसृष्टस्तु प्रोच्यते
पुरुषोत्तमः ॥१७॥ प्रपद्ये पुंडरीकाक्षं देवं नारायणं हरिम्।
लोकनाथं सहस्राक्षमक्षरं परमं पदम् ॥१८॥ भगवंतं प्रप-
न्नोऽस्मि भूतभव्यभवत्प्रभुम्। स्रष्टारं सर्वलोकानामनंतं
विश्वतोमुखम् ॥१९॥ पद्मनाभं हृषीकेशं प्रपद्ये सत्यमच्यु-
तम्। हिरण्यगर्भममृतं भूगर्भं तमसः परम् ॥२०॥ प्रभोः
प्रभुमनाद्यं च प्रपद्ये तं रविप्रभम्। सहस्रशीर्षकं देवं महर्षेः
सत्त्वभावनम् ॥ २१ ॥ प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमनघं
शुचिम्। नारायणं पुराणेशं योगावासं सनातनम्
॥२२॥ संयोगं सर्वभूतानां प्रपद्ये ध्रुवमीश्वरम्।
यः पुरा प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजंगमे ॥ २३ ॥
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे। एकस्तिष्ठति
विश्वात्मा स मे विष्णुःप्रसीदतु ॥२४॥ यः प्रभुः सर्वलो-
कानां येन सर्वमिदं ततम्। चराचरगुरुर्देवः स मे विष्णुः
प्रसीदतु ॥२५॥ आभूतसंप्लवे चैव प्रलीने प्रकृतौ महान्।
योऽवतिष्ठति विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥२६॥ येना-
क्रांतास्त्रयो लोका दानवाश्च वशीकृताः शरण्यः सर्व-
लोकानां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥२७॥ यस्य हस्ते गदा
चक्रं गरुडो यस्य वाहनम्। शंखः करतले यस्य स मे
विष्णुः प्रसीदतु ॥२८॥ कार्यं क्रिया च करणं कर्ता हेतुः

प्रयोजनम् । अक्रियाकरणे कार्ये स मे विष्णुः प्रसीदतु
॥२९॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचभिरेव च । हूयते
च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥३०॥ शमीगर्भस्य
यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः । रिपुगर्भस्य यो गर्भः स
मे विष्णुः प्रसीदतु ॥३१॥ अग्निसोमार्कताराणां ब्रह्मरुद्रें-
द्रयोगिनाम् । यस्तेजयति तेजांसि स मे विष्णुः प्रसीदतु
॥३२॥ पर्जन्यः पृथिवी सस्यं कालो धर्मः क्रियाफलम् ।
गुणाकारः स मे बभ्रुर्वासुदेवः प्रसीदतु ॥३३॥ योगावास
नमस्तुभ्यं सर्ववास वरप्रद । हिरण्यगर्भ यज्ञांग पंचगर्भ
नमोस्तुते ॥३४॥ चतुर्मूर्तपरं धाम लक्ष्म्यावास सदाच्युत ।
शब्दादिवासनान्योऽसि वासुदेव प्रधानकृत् ॥३५॥ अजः
संगमनः पार्थो ह्यमूर्तिर्विश्वमूर्तिधृक् । श्रीः कीर्तिः पंचका-
लज्ञो नमस्ते ज्ञानसागर ॥ ३६ ॥ अव्यक्ताद्व्यक्तमुत्पन्न-
मव्यक्ताद्यः परात्परः । यस्मात् परतरं नास्ति तमस्मि
शरणं गतः ॥३७॥ चिंतयंतो ह्यजं नित्यं ब्रह्मेशानादयः
सुराः । निश्चयं नाधिगच्छंति तमस्मि शरणं गतः ॥३८॥
जितेन्द्रिया जितात्मानो ज्ञान ध्यान परायणाः । यं प्राप्य
न निवर्तंते तमस्मि शरणं गतः ॥ ३९ ॥ एकांशेन जग-
त्कृत्स्नमवष्टभ्य स्थितः प्रभुः । अग्राह्यो निर्गुणो नित्यस्तम-
स्मि शरणं गतः ॥ ४० ॥ सोमार्काग्निमयं तेजो या च
तारामयी द्युतिः । दिवि संजायते तेजः स महात्मा प्रसी-

दतु ॥४१॥ गुणात्मा निर्गुणश्चान्यो रश्मिवांश्चेतनोह्यजः। सूक्ष्मः सर्वगतो देहः स महात्मा प्रसीदतु ॥४२॥ अव्यक्तं सदधिष्ठानमचिंत्यं तमसः परम् ॥ प्रकृतिः प्रकृतिं भुंक्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥४३॥ क्षेत्रज्ञः पंचधा भुंक्ते प्रकृतिं पंचभिर्मुखैः। महागुणांश्च यो भुंक्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥४४॥ सांख्ययोगाश्च ये चान्ये सिद्धाश्च परमर्षयः। यं विदित्वा विमुच्यंते स महात्मा प्रसीदतु ॥४५॥ अतींद्रिय नमस्तुभ्यं लिंगैर्व्यक्तैर्न मीयसे। ये च त्वां नाभिजानंति त्वमस्मि शरणं गतः ॥४६॥ कामक्रोधविनिर्मुक्ता रागद्वेषविवर्जिताः। अनन्यभक्ता जानंति न पुनर्नारकी जनः ॥४७॥ एकांतिनो हि निर्द्वंद्वा निराशाः कर्मकारिणः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणस्त्वां विशंति मनस्विनः ॥४८॥ अशरीरं शरीरस्थं समं सर्वेषु देहिषु। पापपुण्यविनिर्मुक्ता भक्तास्त्वां पर्युपासते ॥४९॥ अव्यक्तबुद्ध्यहंकारमनोभूतेन्द्रियाणि च। त्वयि तानि न तेषु त्वं तेषु तानि न ते त्वयि ॥५०॥ एकत्वाय च नानन्यं ये विदुर्यान्ति ते परम्। समत्वमिहि कांक्षेयं भक्त्या वै नान्यचेतसा ॥५१॥ चराचरमिदं सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम्। त्वयि तंतौ च तत्प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥५२॥ स्रष्टा भोक्तासि कूटस्थो ह्यचिंत्यः सर्वसंज्ञितः। अकर्ता हेतुरहितः पृथगात्मा व्यवस्थितः ॥५३॥ न मे भूतेषु संयोगः पुनर्भवतु जन्मनि।

अहंकारेण बुद्ध्या वा न मे योगस्त्रिभिर्गुणैः ॥५४॥ न
मे धर्मो ह्यधर्मो वा नारंभो जन्म वा पुनः । जरामरणमो-
क्षार्थं त्वां प्रपन्नोऽस्मि सर्वगम् ॥५५॥ विषयैरिन्द्रियै-
श्चापि न मे भूयः समागमः । ईश्वरोऽसि जगन्नाथ
किमतः परमुच्यते ॥५६॥ भक्तानां यद्धितं देव तत्ते हि
त्रिदशेश्वर । पृथिवीं यातु मे घ्राणं यातु मे रसनं जलम्
॥५७॥ रूपं हुताशने यातु स्पर्शो मे यातु मारुते । श्रोत्र-
माकाशमभ्येतु मनो वैकारिकं पुनः ॥५८॥ इंद्रियाणि
गुणान्यां तु स्वेषु स्वेपु च योनिषु। पृथिवी यातु सलिल-
मापोऽग्निमनलोऽनिलम् ॥५९॥ वायुराकाशमभ्येतु-
मनश्चाकाशमेव च । अहंकारं मनो यातु मोहनं सर्वदेहि
नाम् ॥६०॥ अहंकारस्तथा बुद्धिं बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
प्रधानं प्रकृतिं यातु गुणसाम्ये व्यवस्थिते ॥६१॥ विसर्गः
सर्वकरणैर्गुणभूतैश्च मे भवेत् । सत्त्वं रजस्तमश्चैव
प्रकृतिं प्रविशंतु मे ॥६२॥ नैष्कैवल्यपदं देव कांक्षेऽहं ते
परंतप । एकीभावस्त्वया मेऽस्तु न मे जन्म भवेत् पुनः
॥६३॥ नमो भगवते तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे । त्वद्बुद्धि-
स्त्वद्गतप्राणस्त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः ॥६४॥ त्वामेवाहं
स्मरिष्यामि मरणे पर्यवस्थिते । पूर्वदेहे कृता ये मे
व्याधयः प्रविशंतु माम् ॥६५॥ अर्दयंतु च मां दुःखान्यृणं
मे प्रतिमुच्यताम् । अनुध्येयाऽसि मे देव न मे जन्म

भवेत्पुनः ॥६६॥ अस्माद् ब्रवीमि कर्माणि ऋणं मे न भवेदिति । उपतिष्ठंतु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसंचिताः । ॥६७॥ अनृणो गंतुमिच्छामि तद्विष्णोः परमं पदम् । अहं भगवतस्तस्य मम वासः सनातनः ॥६८॥ तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति । कर्मेन्द्रियाणि संयम्य पंचभूतेन्द्रियाणि च ॥६९॥ दशेंद्रियाणि मनसि अहंकारे तथामनः । अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिमात्मनि योजयेत् ॥७०॥ आत्मबुद्धींद्रियं पश्येद्बुद्ध्या बुद्धेःपरात्परम् । एवं बुद्धेः परंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ ७१ ॥ ततो बुद्धेः परंबुद्ध्वा लभते न पुनर्भवम् । ममायमिति तस्याहं येन सर्वमिदं ततम् ॥७२॥ आत्मन्यात्मनि संयोज्य परात्मानमनुस्मरेत् । नमो भगवते तस्मै देहिनां परमात्मने ॥७३॥ नारायणाय भक्ताय एकनिष्टाय शाश्वते । हृदिस्थाय च भूतानां सर्वेषां च महात्मने ॥७४॥ इमामनुस्मृतिं दिव्यां वैष्णवीं पापनाशिनीम् । स्वपन्विबुद्धश्च पठेद्यत्र यत्र समभ्यसेत् ॥७५॥ मरणे समनुप्राप्ते यदेकं मामनुस्मरेत् । अपि पापसमाचारः स याति परमां गतिम् ॥७६॥ यद्यहंकारमाश्रित्य यज्ञदानतपः क्रियाः । कुर्वन् फलमवाप्नोति पुनरावर्तनं च तत् ॥७७॥ अभ्यर्चयन् पितॄन् देवान् पठन् जुह्वन् बलिं ददन् । ज्वलदग्नौ स्मरेद्यो मां लभते परमां गतिम् ॥७८॥ यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।

यज्ञदानतपस्तस्मात्कुर्याद्रागविवर्जितः ॥ ७६ ॥ पौर्णमा-
स्याममावास्यां द्वादश्यां च तथैव च । श्रावयेच्छ्रद्दधानश्च
मद्भक्तश्च विशेषतः ॥८०॥ नम इत्येव योब्रूयान्मद्भक्तः
श्रद्धयान्वितः । तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद
॥८१॥ किं पुनर्ये भजंते मां साधकाः विधिपूर्वकम् । श्रद्धा-
वंतो यतात्मानस्ते यांति परमां गतिम् ॥८२॥ कर्माण्याद्यं-
तवंतोह मद्भक्तोऽनंतमश्नुते । मामेव तस्माद्देवर्षे ध्याहि
नित्यमतंद्रितः ॥८३॥ अज्ञानां चैव यो ज्ञानं दद्याद्धर्मोपदे-
शतः । कृत्स्नां वा पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तत् फलम्
॥८४॥ तस्मात्प्रदेयं साधुभ्यो जपं बंधभयापहम् । अवा-
प्स्यति ततःसिद्धिं प्राप्स्यसे च पदं मम ॥८५॥ अश्वमे-
धसहस्रैश्च वाजपेय शतैरपि । नासौ परमवाप्नोति मद्भ-
क्तैर्यदवाप्यते ॥८६॥

भीष्म उवाच—

हरेः पृष्टं पुरातेन नारदेन सुरर्षिणा । यदुवाच ततः
शंभुस्तदुक्तं समनुव्रतः ॥८७॥ त्वमप्येकमना भूत्वा ध्याहि
ध्येयं गुणाधिकम् । भजस्व सर्वभावेन परमात्मानमव्ययम्
॥८८॥ श्रुत्वैवं नारदो वाक्यं दिव्यं नारायणोदितम् । अत्यंत
भक्तिमान् देव एकांतित्वमुपेयिवान् ॥८६॥ नारायणमृषिं
देवं दशवर्षाण्यनन्यभाक् । इमं जपित्वा चाप्नोति तद्विष्णोः
परमं पदम् ॥६०॥ किं तस्य बहुभिर्मंत्रैः किं तस्य बहुभिर्व्रतैः ।

नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥९१॥ किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः। यो नित्यं ध्यायते देवं नारायणमनन्यधीः ॥९२॥ ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररतास्तथा। तेऽपि यांति परं स्थानं नारायणपरायणाः ॥९३॥ अनन्यया मंदबुद्ध्या प्रतिभाति दुरात्मनाम्। कुतर्कध्वान्तदृष्टीनां विभ्रान्तेन्द्रिय वर्त्मनाम् ॥ ९४ ॥ नमो नारायणायेति ये विदुर्ब्रह्म शाश्वतम्। अंतकाले जपायांति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९५ ॥ आचारहीनोऽपि मुनिप्रवीर भक्त्या विहीनोऽपि विनिंदितोऽपि। किं तस्य नारायण शब्दमात्रतो विमुक्तपापो विशतेऽच्युतां गतिम् ॥९६॥ कांतारवनदुर्गेषु कृच्छ्रेष्वापत्सु संयुगे। दस्युभिः सन्निरुद्धश्च नामभिर्मां प्रकीर्तयेत् ॥९७॥ जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः। नराणां क्षीण पापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥९८॥ नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः। श्वपचोऽपि नराः कर्तुं क्षमस्तावन्न किल्बिषम् ॥९९॥ न तावत्पापमस्तीह यावन्नामाहृतं हरेः। अतिरेकभयादाहुः प्रायश्चित्तांतरं वृथा ॥१००॥ गत्वा गत्वा निवर्तंते चन्द्रसूर्यादयोग्रहाः। अद्यापि न निवर्तंते द्वादशाक्षरचिंतकाः। १०१। न वासुदेवात्परमस्ति मंगलं न वासुदेवात्परमस्ति पावनम्। न वासुदेवात्परमस्ति दैवतं तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति ॥१०२॥ इमां रहस्यां परमामनुस्मृतिं योऽधीत्य बुद्धिं लभते

च नैष्ठिकीम् । विहाय पापं विनिर्मुच्य संकटात् स वीतरागो विचरेन्महीमिमाम् ॥१०३॥

इ० श्री० म० श० सं वै० आ० प० दा०
श्रीविष्णोर्दिव्यमनुस्मृतिस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

गजेन्द्रमोक्षः ।

श्री गणेशाय नमः ॥ श्री गोपालकृष्णाय नमः ॥

शतानीक उवाच—

मया हि देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः । श्रुताः संभूतयः सर्वा गदतस्तत्र सुव्रत ॥१॥ यदि प्रसन्नो भगवाननुग्राह्योऽस्मि वा यदि । तदहं श्रोतुमिच्छामि नृणां दुःस्वप्ननाशनम् ॥२॥ स्वप्नादिषु महाभाग दृश्यंते ये शुभाशुभाः । फलानि च प्रयच्छंति तद्गुणान्येव भार्गव ॥३॥ तादृक् पुण्यं पवित्रं च नृणामतिशुभप्रदम् । दुष्टस्वप्नोपशमनं तन्मे विस्तरतो वद ॥४॥

शौनक उवाच ।

इदमेव महाभाग पृष्टवान्स्वपितामहम् । भीष्मं धर्मभृतां श्रेष्ठं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥५॥

भीष्म उवाच ।

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरातनम् । ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातम् ॥६॥ असच्च सच्च यद्विश्वं

नित्यं सदसतः परम् । परं पराणां स्रष्टारं पुराणं प्रपस-
क्ष्ययम् ॥७॥ मांगल्यं मंगलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥८॥ प्रवक्ष्यामि
महापुण्यं कृष्णद्वैपायनस्य च । येनोक्तेन श्रुतेनापि
नश्यते सर्वपातकम् ॥९॥ नारायण समो देवो न भूतो न
भविष्यति । एतेन सत्यवाक्येन सर्वार्थान् साधयाम्यहम्
॥१०॥ किं तस्य बहुभिर्मंत्रैः किं तस्य बहुभिर्व्रतैः ।
नमो नारायणायेति मंत्रः सर्वार्थसाधकः ॥११॥ जज्ञे
बहुज्ञं परमत्युदारं यं द्वीपमध्ये सुतमात्मवंतम् । पराशरा-
द्गन्धवती महर्षेस्तस्मै नमोऽज्ञानतमोनुदाय ॥१२॥ नमो
भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे । यस्य प्रसादाद्वक्ष्यामि
नारायणकथामिमाम् ॥१३॥ वैशंपायनमासीनं पुराणोक्ति-
विचक्षणम् । इममर्थं स राजर्षिः पृष्ठवान् जनमेजयः ॥१४॥

जनमेजय उवाच—

किं जपन्मुच्यते पापात् किं जपन्सुखमश्नुते । दु
स्वप्ननाशनं पुण्यं श्रोतुमिच्छामि नारद ॥ १५ ॥

वैशंपायन उवाच—

एवमेव पुरा प्रश्नं पृष्टवांस्ते पितामहः । भीष्मं वै
व्रतिनां श्रेष्ठं तं चाहं कथयामि ते ॥१६॥ देवव्रतं महा-
प्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् । विनयेनोपसंगम्य पर्यपृच्छद्यु-
धिष्ठिरः ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

दुःस्वप्नदर्शनं घोरमवेक्ष्य भरतर्षभ। प्रयतः किं जपेज्जाप्यं विबुद्धः किमनुस्मरेत् ॥ १८ ॥ कस्य कुर्यान्नमस्कारं प्रातरुत्थाय मानवः। किं च ध्यायेत सततं किं पूज्यं वा भवेत्सदा ॥१९॥ पितामहप्रसादेन बुद्धिभेदो भवेन्न मे। तदहं श्रोतुमिच्छामि ब्रूहि नो वदतां वर ॥ २० ॥

भीष्म उवाच—

शृणु राजन्महाबाहो कथयिष्येह शांतिकम्। दुःस्वप्नदर्शने जाप्यं यद्वा नित्यं समाहितैः ॥ २१ ॥ अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्। गजेंद्रमोक्षणं पुण्यं कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥२२॥ सर्वरत्नमयः श्रीमांस्त्रिकूटो नाम पर्वतः। सुतः पर्वतराजस्य सुमेरोर्भास्करद्युतेः ॥२३॥ क्षीरोदजलवीच्यग्रैर्धौतामलशिलातलः। उत्थितः सागरं भित्त्वा देवर्षिगणसेवितः ॥ २४ ॥ अप्सरोभिः परिवृतः श्रीमान् प्रस्रवणाकुलः। गंधर्वैः किन्नरैर्यक्षैः सिद्धचारणपन्नगैः ॥२५॥ मृगैः सिंहैर्गजेंद्रैश्च वृतगात्रो विराजते। पुन्नागैः कर्णिकारैश्च सुबिल्वैर्दिव्यपाटलैः ॥२६॥ चूतनिम्बकदंबैश्च चंदनागरुचम्पकैः। शालैस्तालैस्तमालैश्च तरुभिश्चार्जुनैस्तथा ॥२ वकुलैः कुंदपुष्पैश्च सरलैर्देवदारुभिः मंदार कुसुमैश्चान्यैः पारिजातैश्च सर्वशः ॥२८॥ एवं बहुविधैर्वृक्षैः सर्वतः समलंकृतः। नानाधात्वंकितैः शृंगैः

प्रस्रवद्भिः समंततः ॥२९॥ शोभितो रुचिरप्रख्यैस्त्रिभिर्वि-
स्तीर्णसानुभिः । मृगैः शाखामृगैः सिंहैर्मातंगैश्च सदा-
मदैः ॥ ३० ॥ जीवजीवकसंघुष्टं चकोरशिखिनादितम् ।
तस्यैकं कांचनं शृंग सेव्यते यद्दिवाकरः ॥ ३१ ॥ नाना-
पुष्पसमाकीर्णं नानाशृंगैः समाकुलम् । द्वितीयं राजतं
शृंगं सेव्यते यन्निशाकरः ॥३२॥ पांडुरांबुदसंकाशं तुषा-
रचयसन्निभम् । वज्रेंद्रनीलवैडूर्यतेजोभिर्भासयन्नभः ॥३३॥
तृतीयं ब्रह्मसदनं प्रकृष्टं शृंगमुत्तमम् । पद्मरागसमप्रख्यं
तारागणसमन्वितम् ॥३४॥ नैतत्कृतघ्नाः पश्यंति न नृशंसान
नास्तिकाः । नातप्ततपसो लोके ये च पापकृतो जनाः
॥३५॥ नानाराधितगोविंदाः शैलं पश्यंति मानवाः । तस्य
सानुमतः पृष्ठे सरः कांचनपंकजम् ॥३६॥ कारंडवसमा-
कीर्णं राजहंसोपशोभितम् । मत्तभ्रमरसंघुष्टं चकोरशिखि-
नादितम् ॥३७॥ कमलोत्पलकल्हारपुंडरीकोपशोभितम् ।
कुमुदैः शतपत्रैश्च कांचनैः समलंकृतम् ॥३८॥ पद्मैर्मर-
कतप्रख्यैः पुष्पैः कांचनसन्निभैः । गुल्मैः कीचकवेणूनां
समंतात्परिवारितम् ॥३९॥ अत्यद्भुतं महास्थानं विचित्र-
शिखराकुलम् । शतयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्
॥ ४० ॥ पंचयोजनमूर्धानं सर एतत्प्रमाणतः । हिमखंडो-
दकं राजन् सुस्वादममृतोपमम् ॥ ४१ ॥ त्रैलोक्ये दृष्टपूर्वं
च यत्तत्सरमनुत्तमम् । सुप्रसन्नं सरो दिव्यं देवानामपि

दुर्लभम् ॥ ४२ ॥ खातेन द्विगुणं प्रोक्तं शरद्द्यौरिव निर्मलम् । उपहृशाय देवानां सिद्धाद्यर्चित पंकजम् ॥४३॥ तस्मिन्सरसि दुष्टात्मा विरूपोऽतर्जलाशयः । आसीद्ग्राहो गजेंद्राणां दुराधर्षो महाबलः ॥४४॥ अथ दंतोज्ज्वलमुखः कदाचिद्गजयूथपः । आजगाम तृषाक्रांतः करेणुपरिवारितः ॥४५॥ मदस्रावी जलाकांक्षी पादचारीव पर्वतः । वासयन्मदगंधेन महानैरावतोपमः ॥४६॥ गजो ह्यंजनशंकाशो मदाच्चलितलोचनः । तृषितः पानकामोऽयमवतीर्णश्च तत्सरः ॥ ४७ ॥ पिबतस्तस्य तत्तोयं ग्राहश्च समपद्यत । सुलीनः पंकजवने यूथमध्यगतः करी ॥४८॥ गृहीतस्तेन रौद्रेण ग्राहेणातिबलीयसा । पश्यंतीनां करेणूनां क्रोशंतीनां सुदारुणम् ॥४९॥ नीयते पंकजवने ग्राहेणाव्यक्तमूर्तिना । गजो ह्याकर्षते तीरं ग्राहश्चाकर्षते जलम् ॥५०॥ तयोर्युद्धं महाघोरं दिव्यवर्षसहस्रकम् । वारुणैः संयतः पाशैर्निष्प्रयत्नगतिः कृतः ॥५१॥ वेष्ट्यमानः स घोरैस्तु पाशैर्नागो दृढैस्तथा । विस्फूर्जितमहाशक्तिर्विक्रोशंश्च महारवान् ॥५२॥ व्यथितः स निरुत्साहो गृहीतो घोरकर्मणा । परमापद्मापन्नो मनसाचिंतयद्धरिम् ॥५३॥ स तु नागवरः श्रीमान्नारायणपरायणः । तमेव शरणं देवं गतः सर्वात्मना तदा ॥५४॥ एकाग्रो निगृहीतात्मा विशुद्धेनांतरात्मना । नैकजन्मांतराभ्यासा-

द्भक्तिमान् गरुडध्वजे ॥५५॥ नान्यं देवं महादेवात् पूजयामास केशवात्। दिग्बाहुं स्वर्गमूर्धानं भूः पादं गगनोदरम् ॥ ५६ ॥ आदित्यचन्द्रनयनमनंतं विश्वतो मुखम्। भूतात्मानं च मेघाभं शंखचक्रगदाधरम् ॥५७॥ सहस्रशुभनामानमादिदेवमजं विभुम्। संगृह्य पुष्कराग्रेण कांचनं कमलोत्तमम् ॥५८॥ निवेद्य मनसाध्यात्वा पूजां कृत्वा जनार्दने। आपद्विमोक्षमन्विच्छन् गजः स्तोत्रमुदीरयत् ॥५९॥

गजेन्द्र उवाच—

ॐ नमो मूलप्रकृतये अजिताय महात्मने। अनाश्रयाय देवाय निस्पृहाय नमोनमः ॥ ६० ॥ नमो आद्याय बीजाय आर्षेयाय प्रवर्तिने। अनंताय च नैकाय अव्यक्ताय नमो नमः ॥६१॥ नमो गुह्याय गूढाय गुणाय गुणधर्मिणे। अतर्क्यायाप्रमेयाय अतुलाय नमो नमः ॥ ६२ ॥ नमः शिवाय शांताय निश्चयाय यशस्विने। सनातनाय पूर्वाय पुराणाय नमो नमः ॥६३॥ नमोजगत्प्रतिष्ठाय गोविंदाय नमो नमः। नमो देवाधिदेवाय स्वभावाय नमो नमः ॥६४॥ नमोऽस्तु पद्मनाभाय सांख्ययोगोद्भवाय च। विश्वेश्वराय देवाय शिवाय हरये नमः ॥६५॥ नमोऽस्तु तस्मै देवाय निर्गुणाय गुणात्मने। नारायणाय देवाय देवानां पतये नमः ॥६६॥ नमो नमः कारणवामनाय

नारायणायामितविक्रमाय । श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ।६७। गुह्याय वेदनिलयाय महोदराय सिंहाय दैत्यनिधनाय चतुर्भुजाय । ब्रह्मेन्द्ररुद्र-मुनिचारणसंस्तुताय देवोत्तमाय वरदाय नमोच्युताय ॥६८॥ नागेंद्रभोगशयनासनसुप्रियाय गोक्षीरहेमशुकनील-घनोपमाय । पीतांबराय मधुकैटभनाशनाय विश्वाय चारु-मुकुटाय नमोऽक्षराय ।६९॥ नाभिप्रजातकमलासनसंस्तु-ताय क्षीरोदकार्णवनिकेतयशोधराय । नानाविचित्रमुकुटां-गदभूषणाय योगेश्वराय विजराय नमो वराय ॥७०॥ भक्तिप्रियाय वरदीप्तसुदर्शनाय फुल्लारविंदविपुलायतलो-चनाय । देवेन्द्रविघ्नशमनोद्यतपौरुषाय नारायणाय वरदाय नमोऽच्युताय ॥७१॥ नारायणाय परलोकपराय-णाय कालाय कालकमलायतलोचनाय । रामाय रावण-विनाशकृतोद्यमाय धीराय धीरतिलकाय नमो वराय ।७२। पद्मासनाय मणिकुण्डलभूषणाय कंसांतकाय शिशुपाल-विनाशनाय । गोवर्धनाय सुरशत्रुनिकृन्तनाय दामोदराय विरजाय नमोवराय ॥ ७३ ॥ ब्रह्मायनाय त्रिदशाननाय लोकैकनाथाय हितात्मकाय। नारायणायार्तिविनाशनाय महावराहाय नमस्करोमि ॥७४॥ कूटस्थमव्यक्तमचिंत्य-रूपं नारायणं कारणमादिदेवम् । युगांतशेषं पुरुषं पुराणं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ७५ ॥ अदृश्यमच्छेद्यमनंतम-

ध्ययं महर्षयो ब्रह्ममयं सनातनम् । विंदंति यं वै पुरुषं
पुरातनं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ७६ ॥ उत्तिष्ठतस्तस्य
जलोरुकुक्षेर्महावराहस्य महीं विदार्य । विधुन्वतो वेदमयं
शरीरं लोकांतरस्थं मुनयो गृणंति ॥७७॥ योगेश्वरं चारु-
विचित्रमौलिं ज्ञेयं समस्तं प्रकृतेः परस्थम् । क्षेत्रज्ञमात्म-
प्रभवं वरेण्यं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥७८॥ कार्यक्रिया-
कारणमप्रमेयं हिरण्यबाहुंवरपद्मनाभम् । महाबलं वेद-
निधिं सुरोत्तमं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ॥७९॥ किरीटके-
यूरमहार्हनिष्कैर्मण्युत्तमालंकृतसर्वगात्रम् । पीतांबरं कांच-
नचित्रनद्धमालाधरं केशवमभ्युपैमि ॥ ८० ॥ भवोद्भवं
वेदविदां वरिष्ठं योगात्मकंसांख्य विदां वरिष्ठम् । आदि-
त्यचन्द्राग्निवसुप्रभावं प्रभुं प्रपद्येऽच्युतमात्मवंतम् ॥८१॥
यदक्षरं ब्रह्म वदंति सर्वगं निशम्य यन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।
तमीश्वरं युक्तमनुत्तमैर्गुणैः सनातनं लोकगुरुं नमामि
॥८२॥ नमस्तस्मै वराहाय लीलयोद्धरते महीम् । खुरमध्य-
गतो यस्य मेरुः खुरखुरायते ॥८३॥ श्रीवत्सांकं महादेवं
देवगुह्यमनूपमम् । प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम्
॥८४॥ प्रभवं सर्वभूतानां निर्गुणं परमेश्वरम् । प्रपद्ये
मुक्तसंगानां यतीनां परमां गतिम् ॥८५॥ प्रभवं तं मुमु-
क्ष्यत्वमक्षरं परमं पदम् । शरण्यं शरणार्तानां प्रपद्ये भक्त-
वत्सलम् ॥८६॥ त्रिविक्रमं त्रिलोकेशं सर्वेषां प्रपितामहम् ।

योगात्मानं महात्मानं प्रपद्येऽहं जनार्दनम् ॥८७॥ आदिदेवमजं विष्णुं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् । नारायणमणीयांसं प्रपद्ये ब्राह्मण प्रियम् ॥८८॥ अकूपाराय देवाय नमः सर्वमहाद्युते । प्रपद्ये देव देवेशमणीयांसमणोः सदा ॥८९॥ एकाय लोकनाथाय परतः परमात्मने । नमः सहस्रशिरसे अनन्ताय नमोनमः ॥९०॥ तमेव परमं देवमृषयो वेदपारगाः । कीर्तयन्ति च सर्वे वै ब्रह्मादीनां परायणम् ॥९१॥ नमस्ते पुंडरीकाक्ष भक्तानामभयंकर । सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु त्राहि मां शरणागतम् ॥९२॥ तावद्भवति मे दुःखं चिंता संसारसागरे । यावत्कमलपत्राक्षं न स्मरामि जनार्दम् ॥९३॥

भीष्म उवाच—

भक्तितस्य तु संचिंत्य नागस्यामोघसंस्तवात् । प्रीतिमानभवद्राजंश्छ्रुत्वा चक्रगदाधरः ॥९४॥ आरुह्य गरुडं विष्णुराजगाम सुरोत्तमः । सांनिध्यं कल्पयामास तस्मिन्सरसि लोकधृक् ॥९५॥ ग्राहग्रस्तं गजेंद्रं च तं ग्राहं च जलाशयात् । उज्जहाराप्रमेयात्मा तरसा मधुसूदनः ॥९६॥ जलस्थं दारयामास ग्राहं चक्रेण माधवः । मोचयामास नागेन्द्रं पाशेभ्यः शरणागतम् ॥९७॥ स हि देवलशापेन हूहूर्गंधर्वसत्तमः । ग्राहत्वमगमत्कृष्णाद्वधं प्राप्य दिवं गतः ॥९८॥ इदमप्यपरं गुह्यं राजन्पुण्यतमं शृणु ।

युधिष्ठिर उवाच—

कथं शापोऽभवत्तावद्गंधर्वस्य महात्मनः ॥९९॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण पितामह। भीष्मउवाच॥इद-
मप्यपरं गुह्यंराजन्पुण्यतमं शृणु ॥१००॥ यथा तौ शापितौ
तेन देवलेन महात्मना। हाहाहूहूरिति ख्यातौ गीतवाद्यवि-
शारदौ ।१०१। उर्वशी मेनका रंभा तथान्ये चाप्सरोगणाः।
शक्रस्य पुरतो राजन् नृत्यंते तासुमध्यमाः॥१०२॥ततस्तु तौ
गायमानौ गंधर्वौ राजसद्मनि। अन्योन्य कुरुतः स्पर्धां
शक्रस्य पुरतः स्थितौ ॥१०३॥ आवयोरुभयोर्मध्ये यः
श्रेष्ठो गीतवाद्ययोः। तं वदस्व सुरश्रेष्ठ ज्ञात्वा गीतस्य
लक्षणम् ॥१०४॥ गंधर्वयोर्वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच शतक्रतुः।
युवयोर्गीतवाद्येषु विशेषो नोपलभ्यते ॥१०५॥ एक एव
मुनिःश्रेष्ठो देवलो नाम नामतः। युवयोः संशयच्छेत्ता भवि-
ष्यति न संशयः॥१०६॥ततस्तु तौ शक्रवचो निशम्य प्रणम्य
राजन्शिरसा सुरोत्तमम्। गतौ सुहृष्टौ जयकांक्षिणौ तौ
यत्राश्रमे तिष्ठति स द्विजाग्र्यः॥१०६॥ ततो दृष्ट्वा मुनि-
श्रेष्ठं देवलं संशितव्रतम्। अभिवाद्य महात्मानमूचतुः
पार्श्वतः स्थितौ ॥१०७॥ शक्रेण प्रेषितौ देव त्वत्समीपे
द्विजोत्तम। एकस्य नौ जयं देहि यत्ते मनसि रोचते
१०८॥पृथक् चरंतौ गायंतौ रुचिरं मधुराक्षरम्। न किंचिद्व-
दते वाक्यं मुनिर्मौनस्य धारणात् ॥१०९॥ शृण्वन्नपि पदं

तेषां न किंचिद्वदते मुनिः । तदा तौ कुपितौ तस्य देवलस्य महात्मनः ॥११०॥ ऊचतुश्च रुषा वाक्यं गंधर्वौ कालचोदितौ । मूढोऽयं नाभिजानाति निश्चयं गीतवाद्ययोः ॥१११॥ मदान्वितं निशम्यैतद्वचो गंधर्वयोस्तयोः । क्रोधादुत्थाय विप्रेंद्र इदं वचनमब्रवीत् ॥११२॥ एष हूहूर्तु रात्मजस्तु ग्राहत्वं यातु मूढधीः । त्वमेव गजराजस्तु भवस्व गिरिगह्वरे ॥११३॥ एवं शापं ददौ क्रुद्धो देवलः सुमहातपाः । ततस्तौ शापितौ तेन देवलेन महात्मना ॥ १४ ॥ प्रणम्य शिरसा विप्रं गंधर्वाविदमूचतुः । भूमंडलगतौ ह्यावां प्रसादं कुरु सुव्रत ॥१५॥ निश्चयं वद विप्रेंद्र येन शापाद्विमुच्यतः । ततस्तौ पुरुषौ दृष्ट्वा उभौ शापभयार्दितौ ॥१६॥ प्रत्युवाच मुनिश्रेष्ठो गंधर्वाणां भयापहम् । मेरुपृष्ठे सरो रम्यं बहुवृक्षसमाकुलम् ॥१७॥ नानापक्षिगणाढ्यं च द्वितीय इव सागरः । तस्मिन् सरोवरे रम्ये ग्राहो नित्यं भविष्यसि ॥१८॥ तृषार्तस्तत्र मातंगो गमिष्यति नगोत्तमात् । तयोर्मध्ये महद्युद्धं भविष्यति सुदारुणम् ॥१९॥ ग्राहेणाकृष्यमाणस्तु गजः स्तोत्रं करिष्यति । तदैव देवदेवेशस्तुष्यते नात्र संशयः ॥२०॥ ततो नारायणः प्रीतः शापात्त्वां मोचयिष्यति । इत्युक्त्वा ऋषिणा तेन वरेणैतौ प्रमोदितौ ॥२१॥ ग्राहत्वमगमत्सोऽथ वधं प्राप्य दिवं गतः । आपद्विमुक्तौ युगपद्गजो गंधर्व एवच ॥ २२ ॥

गजोऽपि मुक्ततां यातः श्रीकृष्णेन विमोक्षितः ॥ तस्मा-
च्छापाद्विनिर्मुक्तो गजो गंधर्व एवच ॥ २३ ॥ तौ च स्वं
स्वं वपुः प्राप्य प्रणिपत्य जनार्दनम् । गजो गंधर्व राजश्च
परां निर्वृतिमागतौ ॥ २४ ॥ प्रीतिमान् पुंडरीकाक्षः
शरणागतवत्सलः । अभवद्देवदेवेशस्ताभ्यां चैव प्रपूजितः
॥ २५ ॥ भजंतं गजराजानमवदन्मधुसूदनः ।

श्रीभगवानुवाच—

ये मां त्वां च सरश्चैव ग्राहस्य च विदारणम् ॥२६॥
गुल्मकीचकवेणूनां तं च शैलवरं तथा । प्रभासं भास्करं
गंगां नैमिषारण्यपुष्करम् ॥ २७ ॥ प्रयागं ब्रह्मतीर्थं च
दंडकारण्यमेव च । ये स्मरिष्यंति मनुजाः प्रयाताः स्थिर-
बुद्धयः ॥ २८ ॥ दुःस्वप्नो नश्यते तेषां सुस्वप्नश्च भवि-
ष्यति । अनिरुद्धं गजं ग्राहं वासुदेवं महाद्युतिम् ॥२९॥
संकर्षणं महात्मानं प्रद्युम्नं च तथैव च । मत्स्यं
कूर्मं वराहं च वामनं तार्क्ष्यमेव च ॥ ३० ॥ नारसिंहं च
नागेंद्रं सृष्टिप्रलयकारकम् । विश्वरूपं हृषीकेशं गोविंदं मधु-
सूदनम् ॥ ३१ ॥ सहस्राक्षं चतुर्बाहुं मुरारिं गरुडध्वजं ।
त्रिदशं त्वदितिं देवं दृढ़ भक्ति मनुत्तमम् ॥ ३२ ॥ वैकुंठं
दुष्ट दमनं मुक्तिदं मधुसूदनम् । एतानि प्रातरुत्थाय
संस्मरिष्यंति ये नराः ॥ ३३ ॥ सर्वपापैः प्रमुच्यंते विष्णु-
लोकमवाप्नुयुः ॥

भीष्म उवाच—

एवमुक्त्वा महाराज गजेंद्रं मधुसूदनः ॥३४॥ स्पर्शया-
मास हस्तेन गजं गंधर्वमेव च। तौ च स्पृष्टौ ततः सद्यो
दिव्यमाल्यांबरावुभौ ॥ ३५ ॥ तमेव मनसा प्राप्य जग्म-
तुस्त्रिदशालयम्। ततो दिव्यवपुर्भूत्वा हस्तिराट् परमं
पदम् ॥ ३६ ॥ गच्छति स्म महाबाहो नारायणपरायणः।
ततो नारायणः श्रीमान्मोचयित्वा गजोत्तमम् ॥ ३७ ॥
ऋषिभिः स्तूयमानोग्र्यैर्वेदगुह्यपरात्परैः। ततः स भगवान्
विष्णुः दुर्विज्ञेयगतिः प्रभुः ॥ ३८ ॥ शंखचक्रगदापाणि-
रंतर्धानं समाविशत्।

वैशंपायन उवाच—

गजेंद्रमोक्षणं श्रुत्वा कुंती पुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
भ्रातृभिःसहितः सम्यक् ब्राह्मणैर्वेदपारगैः। पूजयामास
देवेशं पार्श्वस्थं मधुसूदनम् ॥ ४० ॥ विस्मयोत्फुल्लनयनाः
श्रुत्वानागस्य मोक्षणम्। ऋषयश्च महाभागाः सर्वे
प्रांजलयः स्थिताः ॥ ४१ ॥ अजं वरेण्यं वरपद्मनाभं
महाबलं वेद निधिं सुरोत्तमम्। तं वेदगुह्यं पुरुषं पुराणं
ववंदिरे वेदविदां वरिष्ठम् ॥ ४२ ॥

एतत्पुण्यं महाबाहो नराणां पुण्यकर्मणाम्। दुःस्व-
प्नदर्शने घोरे श्रुत्वा पापैः प्रमुच्यते ॥ ४३ ॥ तस्मात्त्वं
हि महाराज प्रपद्य शरणं हरिम्। विमुक्तः सर्व

पापेभ्यः प्राप्यसे परमं पदम् ॥४४॥ यदा महाग्राहगृहीत-
कातरं सुपुष्पिते पद्मवने महाद्विपम् । विमोक्षयामास गजं
जनार्दनो दुःस्वप्ननाशं च सुखोदयंसदा ॥४५॥ परंपराणां
परमंपवित्रं परेशमीशं सुरलोकनाथम् । सुरासुरैरर्चितपा-
दपद्मं सनातनं लोकगुरुं नमामि॥४६॥ वरगजशरणाद्वि-
मुक्तिहेतुं पुरुषवरं स्तुतिदिव्यदेहगीतम् । सततमपि
पठंति ये तु तेषामभिहित मंतरकिल्विषापहं स्यात् ॥४७॥
दृढवद्धधर्ममूलो वेदस्कंधः पुराणशाखाढ्यः । क्रतु-
कुसुमो मोक्षफलो मधुसूदनपादपो जयति ॥ ४८ ॥ नमो
ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च । जगद्धिताय कृष्णाय
गोविंदाय नमो नमः ॥४६॥ आकाशात्पतितं तोयं यथा
गच्छति सागरम् । सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति
॥५२॥ वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा । आदौ
मध्ये तथा चांते हरिः सर्वत्र गीयते ॥५१॥ सर्व रत्नमयो
मेरुः सर्वाश्चर्यमयं नभः । सर्व तीर्थमयी गंगा सर्वदेवमयो
हरिः ॥ ५२ ॥ गीता सहस्रनामैव स्तवराजो ह्यनुस्मृतिः ।
गजेंद्र मोक्षणं चैव पंचरत्नानि भारते ॥५३॥

इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिर
संवादे गजेन्द्रमोक्षः समाप्तः ।

* श्रीकृष्णार्पणमस्तु *

शरभस्तोत्रम्–

ओं अस्य श्री शरभमंत्रस्य कालाग्निरुद्रऋषिः जगतीछन्दः श्री शरभो देवता खंबीजं स्वाहा शक्तिः ओं कीलकं मम चतुर्वर्ग फलाप्तयेजपे विनियोगः ॥ऋष्यादिन्यासः॥ कालाग्निरुद्र ऋषयेनमः शिरसि ॥जगतीछंदसे नमोमुखे॥ शरभदेवायनमोहृदि ॥खंबीजायनमोगुह्ये॥ ओं कीलकायनमः सर्वांगे॥करन्यासः॥ ओं खें खां अं कं०५ आंअंगुष्ठाभ्यां०॥ओं खं फट् ईं चं०५ ईं तर्ज०॥ओं प्राणग्रहासि२फट ओं उं टं०५ ऊं मध्य० ॥ ओं सर्व संहारणाय एं तं०५ ऐं अनामि०॥ ओं शरभायसालुवाय ओं ओं पं०५ औं कनि०॥ ओं हुं पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा अं यं रं लं वं शं षं सं हं वं चं अः करतल० ॥ एवं हृदयादि ॥ ओं भूर्भुवः स्वरोमितिदिग्बंधनम् ॥ मानसोपचारैःपूजयित्वा ॥ ओं चन्द्रार्कौवह्नि दृष्टिः कुलिशनखवर श्चंचलत्युग्रजिह्वः ॥ काली दुर्गाचपक्षौहृदय जठरगोभैरवोवाडवाग्निः ॥ ऊर्वास्यौव्याधिमृत्यूवरुकभवनश्चंडवातातिवेगः ॥ संहर्ता सर्वशत्रून्सजयतिशरभः सालुवःपक्षिराजः ॥ ओं खां खीं खूं फट् प्राणग्रहासि २ हुं फट् सर्व-संहारणायशरभाय पक्षिराजाय हुं फट् स्वाहा ॥ मूलम् ॥ ध्यानम् ॥

क्वाकाशः क्वसमीरणः क्वदहनक्वापः क्वविश्वंभरः । क्वब्रह्माक्वजनार्दनः क्वतरणिः क्वेन्दुः क्वदेवासुराः ॥

कल्पान्तः शरभेश्वरः प्रमुदितः श्रीसिद्धयोगीश्वरः क्रीडा-
नाटकनायकोविजयतेदेवोमहाशालुवः ॥ १ ॥ रक्तांभः
सुप्रसन्नंत्रिनयनममृतोन्मत्तभाषाभिरामम् ॥ कारुण्यां-
भोधिमीशंवरदमभयदं चन्द्ररेखावतंसं शंख चक्रन्यखिला-
शा प्रति हतविधिना भासमानात्मदेहं, सर्वेशंशालुवेशं
प्रणत भय हरं पक्षिराजं नमामि ॥२॥ ज्वलनकुटिलकेश
सूर्यचन्द्राग्निनेत्रं । निशितकरनखाग्रोद्भूति सासादिदेहं,
शरभमथतनीन्द्रैर्भाव्यमानंसितांगं ॥ प्रणतभय विनाशं
भावयेपक्षिराजं ॥३॥ अथस्तोत्रप्रारंभः ॥

ॐ देवादि देवायजगन्मयाय शिवाय शुभ्रांशु निभा-
ननाय ॥ शर्वायभीमाय शराधिपाय नमोस्तुतुभ्यंशरभे-
श्वराय ॥ १ ॥ हरायभीमायहरप्रियायभवायशांतायपरा-
त्पराय ॥ मृगायरुद्रायत्रिलोचनायनमोस्तु० ॥२॥ शीतां-
शुचूडायदिगंबराय सृष्टिस्थितिध्वंसनकारणाय ॥ जटा-
कलापायजितेन्द्रियाय नमोस्तु०॥४॥ कलंककंठाय भवान्त-
काय कपालशूलांशकराम्बुजाय ॥ भुजंगभूषायपुरान्तकाय
नमोस्तु० ॥ ५ ॥ यमादियोगाष्टकसिद्धिदाय ऐश्वर्यसंतान
विवर्द्धनाय ॥ उमाधिनाथाय पुरान्तकाय नमोस्तुतु० ॥६॥
घृणादिपाशाष्टक वर्जितायखिलीघृतास्मत्परिपूर्वगाय ॥
गुणादिहीनाय गुणत्रयाय नमोस्तु० ॥ ७ ॥ कालायवेदा-
मृतकंधराय कल्याण कौतूहलकारणाय ॥ स्थूलाय

सूक्ष्माय सुरूपमाय नमोस्तुतु० । ८ ॥ पंचाननायाखिल-भासकाय पंचादशार्णोघ पराक्षराय ॥ पंचाक्षरीशाय जगद्धिताय नमो० ॥ ९ ॥ नीलकंठाय रुद्राय शिवायशशि मौलये ॥ भवायभवनाशायपक्षिराजाय ते नमः॥१०॥ परात्पराय घोराय शंभवे परमात्मने ॥ शर्वायनिर्मलांगाय साधु-वायनमोनमः ॥ ११ ॥ गंगाधराय सांवायपरमानन्दतेजसे शर्वेश्वराय शांताय शरभाय नमोनमः ॥ वरदाय वरांगाय कामदेवाय शूलिने ॥ गिरिशाय गिरीशाय गिरिजापतये नमः ॥ इति आकाशभैरवकल्पेशरभेश्वर स्तोत्रम् ॥

ॐ अस्यश्रीरामदुर्गस्तोत्र मंत्रस्य कौशिकऋषि
रनुष्टुप्छन्दः

श्री रामोदेवता रांबीजं नमः शक्तिः रामायकीलकं श्रीरामप्रसादसिद्धि द्वारा ममसर्वतोरक्षापूर्वक नानाप्रयोग सिद्ध्यर्थे श्रीरामदुर्गस्तोत्र पाठे विनियोगः ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं रां रीं ह्रीं श्रीं आं क्रों ऐं ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ नमो भगवते रामाय ममसर्वाभीष्टं साधय२ हूं फट् स्वाहा ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ऐ रां रामाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते रामाय ममप्राच्यां ज्वल ज्वल प्रज्वल२ निर्धनं सधनं साधय२ मां रक्ष२ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ १ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ऐं लं लक्ष्मणाय-नमः ॥ ॐ नमो भगवते लक्ष्मणायममयाम्यांज्वल २

प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष२ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ २ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ऐं भं भरताय नमः ॥ ॐ नमो भगवते भरताय ममप्रतीच्यां ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ ३ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ शं शत्रुघ्नाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते शत्रुघ्नाय मम उदीच्यांज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ ४ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ जां जानक्यै नमः ॥ ॐ नमो भगवति जानक्यै मम ऐशान्यां ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ ५ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ सुं सुग्रीवायनमः ॥ ॐ नमो भगवते सुग्रीवाय मम आग्नेयां ज्वल२ प्रज्वल२ निर्धनं सधनं साधय२ मां रक्ष२ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ ६ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ विं विभीषणाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते विभीषणाय मम नैर्ऋत्यां ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष२ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ ७ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं ॐ वँ वायुसुताय नमः ॥ ॐ नमो भगवते वायुसुताय ममवायव्यां ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥ ८ ॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ मं महावीरत्रिष्वक्सेनमः ॥ ॐ नमो भग-

वते महावीरनिष्णवे मम ऊर्ध्वं ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय२ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥६॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ नृं नृसिंहाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते नृसिंहाय मम मध्ये ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय२ मां रक्ष२ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा॥१०॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ वं वामनाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते वामनाय मम अधो ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय२ मां रक्ष२ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥११॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ कं केशवाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते केशवाय मम सर्वतः ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥१२॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ मं मर्कटनायकाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते मर्कटनायकाय मम सर्वदा ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥१३॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ कं कपिनाथाय कपिपुङ्गवायनमः ॥ ॐ नमो भगवते कपिनाथाय कपिपुङ्गवाय मम चतुर्द्वारं ज्वल २ प्रज्वल २ निर्धनं सधनं साधय २ मां रक्ष २ सर्वदुष्टेभ्यो हूं फट् स्वाहा ॥१४॥ ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं रां रीं चों ह्रीं श्रीं आं क्रों ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ नमो भगवते रामाय सर्वाभीष्टं साधय २ हूं फट् स्वाहा॥१५॥ इति श्रीरामदुर्ग स्तोत्रम्॥

श्री हनुमते नमः—

ॐ अस्य श्री हनुमल्लांगूलशत्रुञ्जय स्तोत्र मन्त्रस्य ईश्वर ऋषिरनुष्टुपछन्दः ॥ श्री हनुमान् रुद्रो देवता हं बीजं स्वाहा शक्तिः ॥ हाहाहा इति कीलकम् ॥ मम सर्वारि क्षयार्थे जपे विनियोगः ॥ ॐ हां हीं हूं हैं हौं हः ॥ ॐ हां आंजनेयाय अंगुष्ठाभ्यां, हृदयाय० ॥ ॐ हीं रामदूताय तर्जनीभ्यां; शिरसे० ॥ ॐ हूं अक्षयकुमार विध्वंसकाय मध्यमाभ्यां० शिखायै० ॥ ॐ हैं लंका विदाहकाय अनामिकाभ्यां० कवचाय० ॥ ॐ हौं रुद्रावताराय कनिष्ठकाभ्यां० नेत्राभ्यां० ॥ ॐ हः सकलारिसंहारणाय करतल कर पृष्ठाभ्यां; अस्त्राय० ॥ ॐ ऐं श्रीं हां हीं हूं हौं ह्स्फ्रें ख्फ्रें ह्स्रौं ह्स्ख्फ्रें ह्सौं नमो हनुमते त्रैलोक्याक्रमण पराक्रम श्री राम भक्त मम परस्य च सर्व शत्रून् चतुर्वर्ण सम्भवान् पुंस्त्री नपुंसकान् भूतभविष्यद्वर्तमानान् दूरस्थान् समीपस्थान् नाना नामधेयान् नाना संकर जातीयान् कलत्र पुत्र मित्र भृत्य बन्धुसुहृत्समेतान् प्रभु शक्ति सहितान् धन धान्यादि संपत्तियुतान् राज्ञो राज सेवकान् मन्त्रि सचिव सखीनात्यन्तिकान् क्षणेन त्वरया एतद्दिनावधि नानोपायैर्मारय २ शस्त्रैश्छेदय २ अग्निनाज्वालय २ दाहय २ अक्षय कुमारवत् पादतलाक्रमणेन आत्रोटय २ घातय २ भक्ष-

जन वत्सल सीताशोकापहारक सर्वत्र मामेनं च रक्ष २ हां हां हां हुँ हुँ हुँ भूतसंघैः सह भक्षय २ क्रुद्धचेतसा नखैर्विदारय २ देशादस्मादुच्चाटय २ पिशाचवद्भ्रंशय २ घे घे घे हुँ हुँ हुँ फट् स्वाहा ॥ ॐ नमोभगवते श्री हनुमते महाबल पराक्रमाय महाविपत्ति निवारणाय भक्तजन मनः संकल्पना कल्पद्रुमाय दुष्टजन मनोरथ स्तम्भनाय प्रभञ्जन प्राणप्रियाय ॥ अथ ध्यानम् ॥ श्री मन्तं हनुमन्तमात्त रिपुभिद् भूभृत्तनुभ्राजितं वल्गद्वालधि बद्धवैरिनिचयं चामी कराद्रि प्रभम् ॥ रोषा रक्त पिशंगनेत्र नलिन भ्रूभंग संग स्फुरत्प्रोद्यच्चंड मयूखमंडल मुखं दुःखापहं दुःखिनाम् ॥१॥ कौपीनं कटि सूत्र मौञ्ज्यजिनयुग्देहं विदेहात्मजाप्राणाधीश पदारविन्द निहत स्वान्तं कृतान्तं द्विषाम् ध्यात्वैवं समरांगण स्थित मथानीय स्वहृत्पंकजे संपूज्याखिल पूजनोक्त विधिना संप्रार्थयेत्प्रार्थितम् ॥२॥ ॐ हनूमानञ्जनी सूनोमहाबल पराक्रम ॥ लोल लांगूलपातेन ममारातिं निपातय ॥३॥ अक्षक्षय-रण पिंगाक्षक्षितिजा शुक्क्षयंकर ॥ लोल० ॥ ४ ॥ मर्कटाधिपमार्तण्डमण्डलग्रासकारक ॥ लोल० ॥ ५ ॥ रुद्रावतार संसार दुःखभारापहारक ॥ लोल० ॥ ६ ॥ श्रीराम-चरणाम्भोज मधुपायित मानस ॥ लोल० ॥ ७ ॥ वालि-प्रकालरदक्रान्त सुग्रीवोन्मोचन प्रभो ॥ लोल० ॥ ८ ॥

सीताविरहवारीशभग्निसीतेशतारक ॥ लोल० ॥ ९ ॥
रक्षोराज प्रतापाग्नि दह्यमानजगद्धित ॥ लोल० ॥ १० ॥
ग्रस्ताशेषजगत्स्वास्थ्यराक्षसाम्भोधिमन्दर ॥ लोल० ॥
॥११॥ पुच्छ गुच्छस्फुरद्धूम ध्वज दग्धनिकेतन ॥लोल०॥
॥१२॥ जगन्मनोदुरुल्लंघ्य पारावार विलंघन ॥लोल०॥
॥१३॥ स्मृतिमात्र समस्तेच्छा पूरण प्रणतप्रिय ॥लोल०॥
॥१४॥ रात्रिंचरचमूराशि कर्तनैक विकर्तन ॥ लोल० ॥
॥१५॥ जानकीजानकीजानि प्रेमपात्र परंतप ॥लोल०॥
॥१६ भीमादिक महावीर वीरवेशादि तारक ॥लोल०॥
॥१७॥ वैदेही विरहाक्रान्त रामरोषैकविग्रह ॥ लोल० ॥
॥१८॥ वज्राङ्गनखदंष्ट्रेश वज्रिवज्राव कुंठन ॥लोल०॥१९॥
अखर्व गर्व गन्धर्व पर्वतोद्भेदनेश्वर ॥ लोल० ॥ २० ॥
लक्ष्मणप्राणसंत्राण त्रातस्तीक्ष्ण करान्वय ॥ लोल० ॥
॥२१॥ रामादि विप्रयोगार्त भरताद्यार्ति नाशन ॥लोल०॥
॥२२॥ द्रोणाचलसमुत्क्षेप समुत्क्षिप्तारि वैभव ॥ लोल० ॥
॥२३॥ सीताशीर्वाद सम्पन्न समस्ताभयवांछित ॥लोल०॥
॥२४॥ वातपित्तकफश्वास ज्वरादि व्याधि नाशन ॥
लोल० ॥ २५ ॥ ॐ इत्येवमश्वत्थ तलोपविष्टः शत्रुंज-
यंनामपठेत्स्तवं यः ॥ सशीघ्रमेवास्तसमस्तशत्रुः प्रमोदतेमा-
रुतिज प्रसादात् ॥२६॥ इति हनुमच्छत्रुञ्जय स्तोत्रम् ॥

समाप्त

घंटा कर्ण मन्त्रः

ॐ घंटा कर्णो महावीर सर्व व्याधि विनाशक।
विस्फोटक भयं घोरं रक्ष रक्ष महाबल ॥
यत्रत्वन्तिष्ठते देव लिखिताक्षर पंक्तिभिः ।
रोगास्तत्र प्रणश्यन्ति वात पित्त कफोद्भवाः ॥
तत्र राज भयं नास्ति यान्ति कर्णेजपाक्षरम्।
शाकिनी भूत बेताल राक्षसाः प्रभवन्ति न॥
ना काले मरणं तस्य नच सर्पस्य दंशनम् ।
अग्निचौर भयंनास्ति ॐ घंटा कर्ण नमोस्तुते स्वाहा॥

इस मन्त्र को ३ वार नित्य पाठ करने से अग्नि, सर्प तथा रोग का भय नाश होगा। मोर पंख से झाड़ा दे तो गाय, भैंस के सम्पूर्ण रोग नष्ट होंगे। क्वारी कन्या के कते सूत्र का गंडा बनाकर मन्त्र से २१ गांठ बांधे और बच्चों के गले में बांधे तो नजर आदि सब रोग नष्ट होंगे, तथा इसको लिखकर दरवाजे पर बांधे तो घर के विषैले कीड़े नष्ट होंगे। अभिमन्त्रित करके जल पिलावे तो पेट के दर्द दूर होंगे। और झाड़ा देने से वायगोले का दर्द दूर हो जाता है। इसको जपता हुआ दुर्गम मार्ग में कभी भय न होवे। राज भय, चोर भय ८४ वायु रोग जायँ। २१ वार पढ़कर झाड़ने से डाकिनी दोष जायँ। दीप-मालिका, ग्रहण, होली की रात्रि में अष्टगन्ध से लिखे। पास रखे सर्व सिद्धि होती है।

गीता के श्लोकों से प्रयोग विधि तथा भगवान् की वेदोक्त पुराणोक्त पू० वि० अ से औ तक